विषय-सूची

—:*:—

* आगणेशाय नमः ।*

* ॥ श्री सीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥ *

अहिंसा-तत्त्व ।

—:o:—

अहिंसा का स्वरूप ।

जितने सद्धर्म्म संसार में हैं, और जितने महात्मागण देशदेशान्तर में प्रकट हुए हैं, सबोंका यही दृढ़ सिद्धान्त है कि "अहिंसा परमोधर्म्मः"* और यही यथार्थ में सब धर्म्मों का मूल है। जैसे विना मूल वृक्ष की स्थिति असम्भव है, विना नींव मकान नहीं ठहर सकता, वायु के किसी न किसी रूप में विना प्राप्ति के शरीर रह नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार अहिंसा के विना न कोई धर्म्म-सम्पादन हो सकता, और न व्यक्तिविशेष अथवा समाज अथवा देश की ही उन्नति हो सकती है। ईश्वरोन्मुख अग्रसर करने के लिए सुघर सोपान का प्रथम चरण यही है। अष्टांग योग का प्रथम अंग "यम" है और यम की प्रथम साधना अहिंसा है। यह ज्ञान का तत्त्व, सब साधनाओं का सार, भक्ति के प्राण और कर्म्मयोग का

---

*महाभारत अनु० अध्याय ११५ श्लोक २५; अ० ११६ श्लो० ३८ पद्मपुराण स्वर्गखंड, अ-३१ श्लोक २७।

आधार है। इसी एक परम मूलमंत्र के साधन और सिद्धि करने से अन्य सभी सद्गुणों की प्राप्ति होती है, और इस की उपेक्षा करने से सब परिश्रम और पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाते हैं। अत्रिस्मृति का वचन हैः—"यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः। यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान्भजन् ४७।" बुद्धिमान् मनुष्य सर्वदा यम अर्थात् अहिंसा आदि का सेवन करे, नियम (विधि) का अनुष्ठान यम की भांति नित्य आवश्यक नहीं है, और जो यम अर्थात् अहिंसा आदि का त्याग कर केवल नियम ही पालन करता है, वह पतित हो जाता है।

अहिंसा का यथार्थ अर्थ और निष्कर्ष यही है कि "शरीर, मन वचन, और कर्म्म तथा धारणा द्वारा भी किसीका कदापि अनहित न करना और न करने का संकल्प करना।" जैसा कि कूर्मपुराण, उत्तरार्द्ध अध्याय ११ में लिखा हैः—

"कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा। अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः। १४।" शरीर से चोट पहुंचाना, अथवा किसीकी वस्तु अन्याय से हरण कर लेना शारीरिक हिंसा और इसके प्रतिकूल आचरण अहिंसा है। गाली देना, परनिन्दा करना, असत्य भाषण करना, किसीके हृदय को दुखाने के लिए अप्रिय वाक्य का व्यवहार करना, आदि वाचनिक हिंसा है। मन में किसी व्यक्तिविशेष के लिए अनिष्ट-चिन्तन करना, किसीको क्षति पहुंचाने का संकल्प करना अथवा उसके प्रति द्वेष और घृणा करना मानसिक

हिंसा है। किसी व्यक्ति के प्रति निरन्तर द्वेषभाव बनाये रखना धारणात्मक हिंसा है। इन सभी क्रियाओं से विरत रहने अथवा उन्हें परित्याग करने से ही अहिंसा की प्राप्ति होती है।

आर्य्य वैदिक धर्म्म में अहिंसा की मूलभित्ति, सर्वत्र सब प्राणियों में एक ही परमात्मा की व्याप्ति और वास है, सभी नाम-रूप उन्हींके नाम-रूप हैं और विश्व के सबके सब संसृति और बद्भव द्वारा उन्हीं परमात्मा की अमित महिमा, अलौकिक सुन्दरता, अनन्तानंत गुण और आनन्दमयी शक्ति का क्रमशः विकाश कर रही हैं। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य है—"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति। सर्वभूतेषुयेनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।" "हे अर्जुन! इन सब मेरी विभूतियों को पृथक् २ रूप से जानने से तुझे क्या प्रयोजन है? तू इतना ही निश्चय कर ले कि मैं इस सम्पूर्ण विश्व को अपने एक अंश से व्याप्त कर धारण करता हूं। जीवलोक में यह जीव मेरा ही अंश है। हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। हे अर्जुन! जो मुझको सभी प्राणियों में देखता है और सब प्राणियों को मुझमें देखता है, उस योगी से मैं अदृश्य नहीं रहता हूं

और न वह मुझसे अदृश्य रहता है, अर्थात् वह मेरा प्रत्यक्ष दर्शन पाता है। हे अर्जुन! जिस ज्ञान से स्थावर, जंगम आदि भिन्न २ समस्त प्राणियों में अभिन्न और अविनाशी एक ही भाव दिखाई देता है, वह सात्विक ज्ञान है।" अहिंसा द्वारा इस विकाश में सहायता मिलती, अतएव यह सुखद, शान्तिप्रद और ईश्वरप्रिय है, और हिंसाद्वारा इस विकाश में अवरोध उपस्थित होता है, जिसके कारण वह दुःखद, भयप्रद और ईश्वरविमुख कार्य्य है। क्रिश्चियन और इसलाम आदि धर्मों ने भी श्री परमात्मा को सर्वव्यापी, अन्तर्यामी और सबका नियन्ता माना है। अतएव यह सिद्धान्त और इसका परिणाम "अहिंसा धर्म" सर्व्वमान्य है। अहिंसा के सहारे मनुष्य ईश्वरोन्मुख होकर परमानन्दसागर के नित्य आनन्द का अनुभव करता है, किन्तु हिंसा के अभ्यास से ईश्वरविमुख होकर माया के अन्धकार में पड़ कर और अविद्यारूपी गर्त्त में गिर कर चकनाचूर हो जाता है। अहिंसक भय, शोक, उद्वेग, दुःख आदि से मुक्त होकर परमशान्ति को लाभ करता है।

जहां हिंसक रहते हैं वहां सदा नानाप्रकार के उत्पात, दुःख, उपद्रव, भय और अशान्ति होती रहती है और सबके सब यथार्थ में उद्विग्न रहते हैं, यद्यपि बाह्य से कतिपय क्षणिक लाभ का आभास भी पाया जाता हो। अहिंसक अपने प्रभाव से अपने स्थान को स्वर्ग बनाता है, वहां सुख शान्ति विराजमान रहती है; परन्तु हिंसक इस संसार में भी यथार्थ में

नरक की यन्त्रणा भोगता है। संसार के सभी क्लेश, उपद्रव और दुःख का यथार्थ कारण हिंसा है। अतएव हिंसा की निवृत्ति और अहिंसा के प्रचार से ही संसार में सुख-शान्ति फैलेगी। अहिंसा के अभ्यास बिना सत्य की प्राप्ति कदापि हो नहीं सकती है। सत्यस्वरूप परमात्मा सब प्राणियों में वर्त्तमान है, किन्तु जो अहिंसा के अभ्यास द्वारा परमात्मा की सर्व्व-व्यापकता का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध नहीं करते; उनको सत्य की प्राप्ति हो नहीं सकती। जो प्राणियों के प्रति हिंसा करते हैं, वे वास्तव में अभ्यन्तरस्थ परमात्मा की भी हिंसा करते हैं। इस कारण हिंसा घोर पाप है। हिंसा का बिना परित्याग किये कोई यथार्थ में सांसारिक उन्नति का लाभ भी कदापि नहीं कर सकता है, यदि कुछ बाह्यदृष्टि से लाभ हो भी, तो वह शीघ्र नष्ट हो जायगा और परिणाम में बड़ा दुःखद होगा।

सांसारिक, व्यावहारिक कार्य्य जैसा कि खेती, वाणिज्य, नौकरी अथवा अन्यान्य व्यवसाय और भी सामाजिक देशहित आदि के कर्त्तव्य में भी यथार्थ लाभ अहिंसा के अभ्यास से ही होगा, हिंसा का भाव धारण करने से हानि की अवश्य सम्भावना रहेगी। स्वास्थ्य और अहिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अहिंसक व्याधियों से मुक्त रहेगा और उसका शरीर स्वच्छ, स्वस्थ और सात्त्विक-भाव-युक्त रहेगा, किन्तु हिंसक रोग, शोक, उद्वेग और क्लेश से अवश्य कलुषित बना रहेगा। प्रायः सांसारिक अधिकांश व्याधियों का कारण केवल हिंसा है, जिसके परित्याग से जनसमुदाय स्वस्थ और सुखी हो जावेंगे।

हैज़ा आदि अनेक संक्रामक और अन्य रोगों की उत्पत्ति हिंसा के करनेसे ही हुई है और हिंसा ही से इनकी पुष्टि भी होती जा रही है। संसार में जो अनेक प्रकार के विरोध, मुकद्दमाबाजी, लड़ाई, अन्याय, बलात्कार, ज़ुल्म, चोरी, डकैती, हत्या आदि होती हैं, उन सबोंका कारण हिंसाभाव है और हिंसा की कमी से ही इनकीकमी होगी। क्रोध, असत्य, लोभ, स्तेय, आदि दुर्गुणों का भी यथार्थ मूल हिंसा ही है, जिसको बिना परित्याग किये किसी भी सद्गुण का समावेश होना कठिन है। महाभारत अनुशासन पर्व, अ० ११५ में लिखा है—"रूपमव्यंगता-मायुर्बुद्धिं सत्वं बलं स्मृतिम्। प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ।८। कांति अंगहीनता का अभाव, आयुर्दा, सुबुद्धि, सत्व, बल, स्मृति चाहनेवाले महापुरुषों को हिंसा से विरत रहना चाहिए।

हिंसा के अनेक रूप हैं, किन्तु उनके पहचानने की उत्तम कसौटी यही है कि जो अपनेको अप्रिय और दुःखद, बोध हो उसे दूसरेके लिए भी अप्रिय तथा दुःखद समझ उसको हिंसा मानना और उससे निवृत्त रहना और जो अपने को सुखद हो उसीको दूसरोंके लिए भी सुखद समझ उनको सुखी करने का यत्न करना। जैसा कि कहा है:—"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।" गीता अ० ६—३२। "यथैवात्मा परस्तद्वत् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता। सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे। २१। दक्षस्मृ०

अ० ३ । हे अर्जुन ! जो सभी प्राणियों के सुख दुःख को स्वयं अपने सुख दुःख के समान मानता है और सबको एकसा देखता है, वही श्रेष्ठ योगी है। सुख चाहनेवाले को जैसी अपनी आत्मा वैसी दूसरेकी आत्मा को भी देखना चाहिए, क्योंकि अपनी और दूसरेकी आत्मा के सुख दुःख समान हैं, अतएव परनिन्दा, गाली, अपमान, असत्यभाषण, द्वेष, घृणा, अपमान सूचक हंसी ठट्ठा, क्रोध, व्यंग्योक्ति, कठोर भाषण, क्रोधाकृति, क्रोधपूरित भाषण, अनुचित भर्त्सना, हानि करना, ईर्ष्या, किसीको धर्म से च्युत कर देना, अन्याय आदि सभी हिंसा हैं।

ईर्ष्या अर्थात् दूसरे की उन्नति से अप्रसन्नता (चिढ़ना) और अवनति से प्रसन्नता बहुत बड़ी हिंसा है। यह ईर्ष्यावान् हिंसक को अग्निवत् दग्ध करती है। ऐसा कभी सम्भव नहीं है कि सिवाय किसी एक व्यक्ति के अन्य कोई भी उन्नति नहीं करे, क्योंकि सदासर्वदा लोग उन्नति किसी न किसी प्रकार से करते ही रहते हैं, अतएव ईर्ष्याकारी दूसरे की उन्नति देख कर प्रायः सर्वदा ही दग्ध होता रहता है और उसके कारण अपनी बड़ी हानि करता है। ईर्ष्या बहुत बड़ी हिंसा और भयानक दुर्गुण इस लिए है कि यह स्वार्थ की पराकाष्ठा है, क्योंकि दूसरे की उन्नति से कोई अपनी हानि न होने पर भी ईर्ष्यावान् व्यर्थ दग्ध होता है। वह एक प्रकार समझता है कि दूसरे की उन्नति उसकी अवनति और दूसरे की अवनति उसकी उन्नति है। परनिन्दा भी प्रायः ईर्ष्यावश की

जाती है, अतएव यह भी हिंसा है। निन्दा करने से निन्दक वक्ता कलुषित होता है। इस कारण दूसरों को अपनी आत्मा के समान जान उनकी उन्नति और अवनति को अपनी उन्नति अवनति मानने से ही ईर्ष्या का मूलोच्छेद होगा। यही भाव यथार्थ है, क्योंकि एकात्म-भाव के कारण किसी एककी उन्नति और अवनति से दूसरेकी भी उन्नति और अवनति थोड़ा बहुत प्रकारान्तर से अवश्य होती है।

परमात्मा के ज्ञान के लिए सर्वप्रथम उनके सर्वात्मभाव के ज्ञान का अभ्यास आवश्यक है, किन्तु हिंसा इस सर्वात्मभाव को बड़ी विरोधिनी है। अतएव हिंसक ज्ञानसोपान की प्रथम सीढ़ी पर भी कदापि अपना पांव स्थापन नहीं कर सकता है। यह संसार वास्तव में परमात्मा का लीला-क्षेत्र है। वे सर्व्वव्यापी होकर ही इन ललित लीलाओं की लालिमा दिखलाते हैं। अतएव यहां सर्वत्र यथार्थ में प्रेम का ही राज्य है और प्रेम ही विश्व की जीवनी शक्ति है। इसलिए हिंसक व्यक्ति कदापि श्रीपरमात्मा के इस प्रेमानन्द का रसास्वादन अथवा इस लीला में साथ होकर सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकता है। वह सदा इस प्रेमराज्य के परम शान्ति-प्रद आनन्द से वञ्चित रहेगा और प्रायः दुःखसागर के तरल तरंगों में तरंगित होता रहेगा। हिंसा और भक्ति तम और प्रकाश के समान कदापि एक साथ वर्तमान नहीं रह सकती। अभिमान, अहंकार, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि हिंसा ही के रूपान्तर हैं, जो अग्नि के समान प्राणियों को दग्ध करती हैं और

केवल अहिंसा-रूपी वर्षा से ही इनसे त्राण पाना सम्भव है।
अहिंसक न किसीकी निन्दा करेगा और न किसीके प्रति अप्रिय वाक्य प्रयोग करेगा। वह न किसीको गाली देगा, न असत्य-भाषण करेगा, न किसी पर क्रोध करेगा, न किसीके लिए अनिष्टचिंतन करेगा और न किसीसे द्वेष करेगा, क्योंकि ये सब हिंसा के अन्तर्गत हैं। अहिंसक अनुचित प्रकार से भी अपमानित और निन्दित होने पर शान्त रहकर बड़ी प्रसन्नता से इसे सहन करेगा और इसके लिए अनिष्टचिन्तन तक को भी हृदय में स्थान नहीं प्रदान करेगा। अहिंसक किसीको भी अपना शत्रु नहीं समझता, किन्तु सबो को वह मित्र की दृष्टि से देखता है। वह अपने स्वार्थसाधन अथवा रक्षा के लिए भी किसीकी हानि करने का संकल्प नहीं करता और न कदापि किसीके साथ छल, कपट आदि असद्व्यवहार करता। यथार्थ अहिंसक कदापि असत्य-भाषण नहीं करता, क्योंकि असत्य द्वारा सत्य का नाश करना और असत्य को सत्य प्रतीत करवाना धोखा-बाजी का काम है, जो यथार्थ में भारी हिंसा है। अतएव अहिंसक अदालत में कदापि मोकद्मावाजी न करेगा और न इसमें उत्तेजना देगा अथवा सहायता करेगा, क्योंकि आधुनिक न्यायालयों में सत्य की रक्षा करना बहुत ही कठिन है। अहिंसक सदा शान्तिप्रिय होगा और विवादग्रस्त विषयों को पंचायत द्वारा निबटेरा करवाने की चेष्टा करेगा। क्योंकि युद्ध द्वारा भयानक हत्या और अन्य खराबियां होती हैं, अतएव अ-

हिंसक युद्ध का सदा घोर विरोध करेगा और शान्तिस्थापन का प्रयत्न सर्वदा किया करेगा। अहिंसक हिंसा, हत्या आदि में किसी रूप में कदापि सहायता न करेगा।

समता।

अहिंसा की मुख्य साधना समता है, अर्थात् प्राणी मात्र को परमात्मा का अंश मान उनमें आत्मभाव रखना और उनको भी अपनी ही आत्मा के समान जानना। इसी कारण श्री मद्भगवद्गीता अ० १० श्लोक ५ में अहिंसा के बाद ही समता का उल्लेख है। जैसा कि लिखा है:—

"अहिंसा समता तुष्टि स्तपो दानं यशोऽयशः। भवंति भावा भूतानां मत्तएव पृथग्विधाः॥" अहिंसा, समता, संतोष, तपस्या, दान, यश, अपकीर्ति, ये सब प्राणियों के पृथक पृथक् भाव मुझसे ही होते हैं।

अहिंसक में जब समता की प्राप्ति होती है, तो वह अपनी दया का प्रयोग विशेष कर दरिद्र, दुःखी, असमर्थ, निःसहाय और नीचजाति के गरीबों पर करता है। वह उनको सुखी सानन्द रखने के लिए प्रबल चेष्टा करता है और उनके वास्तविक अभाव को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। वह उनके दुःख को अपना दुःख, सुख को अपना सुख समझ उनके सुख की वृद्धि और दुःख को घटाने का प्रयत्न किया करता है। लिखा है: 'विद्या-विनय- सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पंडिता: समदर्शिनः। १८। इहैव तैर्जितः सर्गो

येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः। १६। गोता। अ० ५।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। २६। सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ३१। गी० अ० ६। यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवहि पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।७६। अन्नपूर्णोपनिषत्। अ. ५। "पण्डितजन विद्वान् और विनीत ब्राह्मण, गै।, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को समान दृष्टि से देखते हैं। जो सबको समान दृष्टि से देखते हैं, उन्होंने यहां ही इस संसार को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म दोषरहित और समान है, इससे वे ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं। सबको समानदृष्टि से देखनेवाला योगाभ्यासी अपनी आत्मा को सब प्राणी में देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है। संपूर्ण प्राणियों में स्थित, मुझको जो अभेदबुद्धि से देखता है, चाहे वह सब कर्मों को करे अथवा न करे, जिस भांति इच्छा हो रहे, तो भी वह मुझमें रहता है। जब सब प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता और सब प्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है, तभी ब्रह्म की प्राप्ति होती है।,

अहिंसा का परम आधार और सब धर्मों का परम तत्त्व इस समता की प्राप्ति के लिए यह परमावश्यक है कि इस संसार में आत्मा की दृष्टि से एकता रहने पर भी जो बाह्यदृष्टि से भिन्नता है उसकी आवश्यकता को

मानना और भिन्नता से कदापि उद्विग्न नहीं होना। संसार में यदि एक ही रंग, भोजन के एक ही रस और पदार्थ, एक ही प्रकार के वस्त्र, एक ही प्रकार के दृश्य, एक ही सुर और राग होते, तो ये सब परम असह्य हो जाते और इस केवल बाह्य समानता के कारण मनुष्यजीवन दुःखमय हो जाता। विविध पदार्थ और रंग के मेल से सुन्दर दृश्य, विविध उपयुक्त रस से उत्तम भोजन, विविध सुरों के मिलान से उत्तम राग आदि बनते हैं; किन्तु यह आवश्यक है कि भिन्न २ पदार्थ आपस में ऐसे मिल जायं कि एक हो जायं और तभी वे सुन्दर और सुखद होते हैं। पर यदि वे एकत्र होने पर भी एक न हुए और अपनी भिन्नता और पृथकता ही पर अड़े रहे, तो वे अपने और दूसरों के लिए भी भयानक और दुःखद बन जाते हैं। श्रीपरमात्मा की इच्छा इस संसार के बाह्य नानात्व से परम सुन्दर और सुखावह एकत्व की उत्पत्ति करना है। इसलिए इस संसार में धर्म के नाना प्रकार के रूप, अनेक धार्मिक मत, सम्प्रदाय और विश्वास, भिन्न २ आचार व्यवहार आदि का होना आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव भी भिन्न २ है और जो एकके लिए एक समय में ठीक है वह दूसरे के लिए उस समय अथवा सदा के लिए बेठीक है। ऐसा जानकर अहिंसक को अपनेसे भिन्न विश्वास, मत, सम्प्रदाय, सिद्धान्त, आचार व्यवहार रखनेवालों से भेद न मान कर प्रेम और एकता का बर्ताव करना चाहिए, यद्यपि उनके

कोई विश्वास अथवा व्यवहार उसके विरुद्ध भी हों। चूंकि साम्प्रदायिक विद्वेष से बड़ी हानि होती है, अतएव अहिंसक को साम्प्रदायिक और मतमतान्तर के वैमनस्य को दूर करने का और भिन्न २ मत के अनुयायियों में परस्पर मेल, मैत्रीभाव और एकता स्थापन करने का यत्न अवश्य करना चाहिए। यदि वह स्वयं भेदभाव को त्यागकर प्रेम और स्नेह की दृष्टि से भिन्न २ मतावलम्बियों को देखेगा और उनके साथ एकता और सुहृत्ता स्थापन करेगा, तो उसका एकता और मैत्री के लिए यत्न अवश्य सफल होगा, अन्यथा नहीं।

क्षमा।

हिंसा का केवल निषेधात्मक ही भाव अर्थात् केवल हिंसा से निवृत्ति ही नहीं है, किन्तु इसका विधि-भाग भी है। अहिंसा का एक अंग "क्षमा" है। अहिंसक को हिंसा से केवल विरक्त ही नहीं होना चाहिए किन्तु दूसरे से हिंसित, अपमानित, निन्दित होने पर भी और बदला लेने की सामर्थ्य रखने पर भी बदले में न अनिष्ट करना चाहिए और न ऐसा संकल्प चित्त में आने देना चाहिए और प्रसन्नता से हिंसा, अपमान और निन्दा आदि को सह्य कर लेना चाहिए। क्षमा के अभ्यास बिना अहिंसा की प्राप्ति हो नहीं सकती है। अहिंसक समझता है कि जो कोई मेरी हानि, अपकार, निन्दा आदि करता है, वह एक तो अज्ञानता

के कारण करता है और दूसरा मेरे प्रारब्ध कर्म का बदला देकर पूर्व ऋण का शोध कर देता है, जिसके कारण वह सहानुभूति का पात्र है, न कि द्वेष का—और ऐसा जान कर वह तनिक भी उद्विग्न नहीं होता और न बदने में अपकार करने का संकल्प करता है। श्रीविष्णुभगवान् बिना किसी कारण के महात्मा भृगु के पदाघात को सहर्ष सहन कर और क्रोधित होने के बदने क्षमा-प्रार्थना कर त्रिदेव में बड़े समझे गये। यह श्रीविष्णुभगवान् की क्षमा अहिंसकों के लिए आदर्श है। दण्डकारण्य के ऋषियों को राक्षस भक्षण करते थे और उनको यह सामर्थ्य थी कि वे शापद्वारा उन राक्षसों को भस्म कर देते, जिससे उनके प्राणों की रक्षा होती, परन्तु उन परमत्यागी महानुभावों ने अपने शरीर को बचाने के लिए भी अहिंसाव्रत का त्याग नहीं किया। उन लोगों ने अपने शरीर को त्याग कर भी इस अमोघ अहिंसाव्रत की रक्षा की ; वाल्मीकिरामायण में लिखा है:—"बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरञ्चैव राघव ! तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः। ऋषियों ने कहा कि हे श्रीरघुनाथ जी ! बहुत विघ्नबाधाओं को दूर कर बड़ी कठिनाई से तपस्या (अहिंसा) की प्राप्ति होती है। अतएव राक्षसों से भक्षित होने पर भी हम लोग उन्हें शाप नहीं देते हैं।

श्रीवशिष्ठ और श्रीविश्वामित्र के युद्ध में विश्वामित्र द्वारा वशिष्ठ पर शस्त्राघात होने पर भी श्रीवशिष्ठजी ने श्री

विश्वामित्र पर किसी शस्त्र का प्रयोग न किया; जिसका परिणाम यह हुआ कि श्रीवशिष्ठ के क्षमारूपी दण्ड के स्पर्श से श्रीविश्वामित्र के सब शस्त्र व्यर्थ हो गये। इसी प्रकार जो अहिंसक क्षतिग्रस्त अथवा हिंसित होने पर भी हिंसक के प्रति हिंसा न कर क्षमा करेगा, वह प्रायः क्षमा के कारण यथार्थ में क्षति ग्रस्त न होगा, वरन उससे समयान्तर में लाभ अवश्य उठावेगा।

धनुषभंग के उपरान्त पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी ने श्री परशुरामजी की कटूक्तियों को सानन्द श्रवण और सहन किया। इतना ही नहीं, उत्तर में बड़े ही विनम्र हो दीनता-प्रकाश किया, जिसका फल यह हुआ कि श्रीपरशुराम का तेज और प्रभाव क्षीण हो कर श्रीरामचन्द्र में लीन हो गया, जिसके कारण वे श्रीभगवान् रामचन्द्र की वन्दना कर वन में तपस्या करने के लिए गये। दया और समता से प्रेरित होकर हिंसक के प्रति क्षमा करने से क्षमाशील को हिंसक का पुण्य प्राप्त हो जाता है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि हिंसक को हिंसा का दण्ड कर्मदेव उसे अवश्य देंगे। फिर कर्म्म पर निर्भर न रह स्वयं दण्ड देने का निश्चय करना अपनेको दण्डविधायक बनाना है, जो अयुक्त है। अतएव क्षमा ही श्रेय है। अहिंसा का अभ्यास प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग दोनोंमें विधेय है, किन्तु उसके रूप में किञ्चित् अन्तर है। राजा, समाज के उपकार के लिए, दोषी को उचित दण्ड देकर भी अहिंसक

बना रहता है, क्योंकि यह प्रवृत्तिमार्ग का धर्म्म है। किन्तु प्रजा के किये अपराधों के राजा से दण्ड न दिलाकर स्वयं दण्ड देना हिंसा है।

दया

अहिंसा का एक अन्य अंग "दया" है, जिसका तात्पर्य्य हिंसक के प्रति केवल क्षमा ही नहीं करना, बल्कि सर्वोत्तमदृष्टि से दयान्वित होकर उसके और भी हिंसकमात्र के स्वभाव को बदलने और अहिंसा का भाव उनमें उत्पन्न करने और दीन दुःखी के कष्ट को निवारण करनें के निमित्त प्रयत्न करना है। अत्रिस्मृति में लिखा है:—परस्मिन्बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा। आत्मवद्वर्तितव्यं हि दयैषा परिकीर्तिता। पराये लोग, बन्धुवर्ग, मित्र, द्वेषकारी और शत्रु के साथ अपनी आत्मा के, समान व्यवहार करना दया है। विश्वामित्र और वशिष्ठ के विरोध का यह परिणाम हुआ कि विश्वामित्र ब्रह्मर्षि परम अहिंसक हो गये। श्रीभगवान् रामचन्द्र और श्रीपरशुराम के मिलन का भी यही परिणाम निकला कि श्रीपरशुरामजी अपने पूर्व के हिंसाभाव को त्याग कर और अहिंसक बन कर संसार के कल्याण और हित के लिए तपस्या में रत हुए। ये दोनों उपयुक्त पात्र थे; इसी लिए दोनों पर प्रभाव शीघ्र पड़ा।

श्रीविष्णु भगवान् ने महर्षि भृगु का पदाघात ही नहीं सहन किया, बल्कि उनके उस पद को अपने हृदय पर अंकित कर, जिसको भृगुलता कहते हैं, उनका पूर्ण रूपसे सम्मान

किया और इस प्रकार क्षमा धर्म और उसकी महिमा का विस्तार किया। किसी प्रकार के द्वेष, अपकार, निन्दा आदि को सानन्द सह लेने से और उसके द्वारा जो कष्ट मिले उसको सहर्ष स्वीकर कर लेने से हिंसक के स्वभाव में अवश्य परिवर्तन हो जाता है और वह प्रायः अहिंसक बन जाता है। योगसूत्र का वचन है:—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः": अहिंसा में दृढ़ होने से उसके समीप में हिंसक के आने से उसका हिंस्र स्वभाव बदल जाना है। और भी मनु का वचन है:—"क्रुध्यन्त न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।" क्रोध करनेवाले पर कोप नहीं करना चाहिए और यदि कोई कुवाच्य कहे तो उसको आशीर्वाद देना चाहिए। कबीर का वचन है:— 'जो तोको' कांटा बुवै ताहि बोव तू फूल।" और भी लिखा है कि "क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः" अर्थात् देवता के क्रोध का परिणाम भी प्रायः किसी उत्तम फल की प्राप्ति ही होती है। उत्तम अहिंसक हिंसित होने पर केवल क्षमा ही नहीं करेगा बल्कि उपकार करके हिंसक के हिंस्र स्वभाव के बदलने का अवश्य प्रयत्न करेगा। क्षति किये जाने पर उसके बदले में यदि हानिकर्त्ता की हानि की जाती है, तो उससे उसका हिंस्र स्वभाव और अधिक बढ़ जाता है, और वह फिर भी हानि करने का संकल्प करता है तथा अवसर आने पर पहले से भी अधिक हानि करने लगता है। इस प्रकार यह दो-तरफी युद्ध बढ़ता ही जाता है। क्योंकि अग्नि में अग्नि अथवा घृत प्रदान करने से उसकी

मात्रा और तेजी और भी बढ़ जाती है; किन्तु उसकी शान्ति उसके विपरीत गुणधारी अर्थात् जल के देने से ही होती है। इस कारण हिंस्र स्वभाव की शान्ति के लिए प्रतिहिंसा से निवृत्त होकर कुशल अर्थात् उपकारी वर्त्ताव का व्यवहार करना आवश्यक है। और इसीसे हिंस्रस्वभाव की शान्ति होती है। जो अपने अपकारी अथवा अन्य के हिंस्र स्वभाव का परिवर्तन क्षमा, दया आदि द्वारा करता है, वह केवल हिंसक को ही लाभ नहीं पहुंचाता बल्कि अपना भी बहुत भारी कल्याण करता है। क्योंकि जीवात्माओं की एकता श्रीपरमात्मा के अंश होने की दृष्टि से रहने के कारण दूसरों के उपकार करने से ही अपना यथार्थ उपकार होता है। इस परोपकार-रूपी क्रिया का प्रतिक्रिया-रूप फल कर्ता की अन्तरात्मा पर पड़ता है और वह उसको अधिक स्वच्छ और शुद्ध करता है तथा परोपकारी शक्ति की वृद्धि करता है। अहिंसक दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट समझ और दयार्द्र होकर उसकी निवृत्ति के लिए अवश्य यत्न करता है।

इस कारण अहिंसा में सिद्ध व्यक्ति के निकट जाने पर हिंसक का हिंस्र स्वभाव बदल जाता है और वह अहिंसक बन जाता है। अहिंसक महात्मागण के समीपवर्त्ती बाघ और बकरी एक साथ मित्रभाव से विचरण करती हैं और बाघ बकरी के एक रोम को भी भग्न नहीं करता है। हिमालय की सबसे ऊंची चोटी "गौरीशंकर" पर पहुंचने के लिए जो यूरप की एक जमात गयी थी उसने उस प्रान्त में एक साधुदल

का मठ रंगटुंक में पाया और देखा कि वहां पर पशु पक्षीगण आपस में हिंसा नहीं करते और उन साधुओं से भी भय नहीं रखते; किन्तु उनके शरीर से संलग्न हो जाते और उनके साथ स्वच्छन्द विचरण करते हैं। वाल्मिकीय रामायण में कथा है कि महर्षि अगस्त के आश्रम के समीप के राक्षसगण ने अपने स्वाभाविक हिंस्रस्वभाव को त्याग कर शान्तभाव धारण किया और जैसे याचक दाता के निकट याचना के लिए जाता है, उसी प्रकार ऋक्ष, सृमर, व्याघ्र, सिंह, नाना सांप, बिच्छू आदि उक्त ऋषि को घेर कर उनके निकट शान्तभाव से रहते थे। जैसा कि लिखा है:—यदाप्रभृति चाक्रान्तादिगियं पुण्यकर्मणा। तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः। ८३। आ० स० १२ ऋक्षाः सृमरा व्याघ्राः सिंहा नानासरीसृपाः। परिवार्योपगच्छन्ति दातारं प्राणिनो यथा। कि० स० ६०।

त्याग

अहिंसा का मुख्य अंग त्याग अथवा तपस्या है। इस अवस्था में अहिंसक केवल क्षमा और उपकार का प्रयोग करना ही अपना कर्तव्य नहीं समझता, किन्तु इतने से भी हिंसा की निवृत्ति और अहिंसा का भाव दूसरों में न आने से उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक समझने पर अपने आवश्यक सुख का त्याग और कष्ट का सहन सहर्ष करता है। कभी २ हिंसक अहिंसक की दया और उपकार के भाव को नहीं समझ, जो उसके उपकार के लिए किया जाता है, अहिंसक पर विना

कारण ही अत्याचार कर बैठता है तथा नाना प्रकार के क्लेश को प्रदान करता है; किन्तु क्षमाशील और त्यागी अहिंसक इसपर भी विचलित नहीं होता, बल्कि बिना द्वेष के सानन्द उसको सहन कर लेता है। जैसा कि किसी मित्रद्वारा नाहक भी क्रोध और अपमान का भाजन बनने पर सच्चा मित्र उस अनुचित क्रोध अथवा आघात की परवाह नहीं करता और बिना द्वेष के खुशी से बरदास्त कर लेता है, उसी प्रकार अहिंसक भी ऐसे कष्ट और अत्याचार को सहन कर लेता है। वह ऐसा समझ परम हर्षित होता है कि मेरे द्वारा बिना द्वेष के उत्पन्न हुए प्रसन्नता से कष्ट सहन करने से और अपकार के बदले उपकार करने से हिंसक का हृदय अवश्य द्रवित होगा और मेरी सहिष्णुता के कारण उस हिंसक का अज्ञानान्धकार दूर हो जावेगा और तभी वह समझेगा कि हिंसा हेय और निन्दनीय तथा अहिंसा श्रेय और प्रशंसनीय है। यथार्थ में ऐसा परिणाम अवश्य होता है। यदि किसीके द्वारा अनुचित कष्ट मिलने पर उसे प्रसन्नतापूर्वक सह लिया जाय और कष्ट सहन करने के साथ किसी प्रकार का द्वेषभाव हृदय में कदापि न आवे, बल्कि कष्टदाता के प्रति उसकी अज्ञानता के कारण उसका हृदय दया से प्लावित हो जाय और उसके सुधारने की प्रबल आकांक्षा खिल उठे और यथासम्भव उसके लिए प्रयत्न भी किया जाय अर्थात् कष्टदाता के प्रति केवल उपकार का ही भाव हृदय में न आवे, किन्तु उसके लिए चेष्टा भी की जाय, तो अत्यन्त सम्भव है कि अन्याय-

कारी की कठोरता अवश्य कम हो जायगी और वह सुधर जावेगा।

संसार की रक्षा के लिए श्रीशिवजी ने विष को पीकर इसी परोपकाररूपी त्याग का परम आदर्श विश्व को दिखलाया, जिसके कारण वे देवों में महादेव समझे गये। भगवान् नरनारायण संसार के अधिकांश लोगों को अधर्म में प्रवृत्त और उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण करते हुए देख कर केवल दयावश बदरिकाश्रम में, जो जगत् के कल्याण के लिए तपस्या कर रहे हैं, वे भी उसके द्वारा संसार को इसी त्याग का उपदेश दे रहे हैं कि अधर्म (हिंसा) का ह्रास करने के लिए और अहिंसा धर्म को बढ़ाने के लिए तपस्या अर्थात् अपने ऊपर कष्ट लेना परमावश्यक है और इसके बिना संसार का अभ्युदय होना सम्भव नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को जनसमुदाय के लिए, जिसका वह एक अविच्छिन्न अंश है, तपस्या करना चाहिए अर्थात् कष्ट सह कर भी उपकारी कामों में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी तपस्या का नाम यज्ञ और यथार्थ (आध्यात्मिक) दान है। महाभारत वनपर्व में अ० ३१३ में लिखा है:—"दानं वै भूतरक्षणम्।" प्राणियों की रक्षा करना ही दान है। दधीचि-ऋषि की तपस्या को भंग करने के लिए इन्द्र ने अप्सरा को भेजा जिससे उनकी हानि हुई, किन्तु उक्त देवराज ने जब वृत्रासुर के मारने के लिए अस्त्र बनाने के निमित्त उक्त ऋषि से उनकी अस्थि की याचना की तो ऋषि ने उनके पूर्व में किये अपकार को भूल कर और क्षमा और त्यागभाव को धारण कर

सहर्ष अपने शरीर को प्रदान किया। यह परमत्याग और उपकार का अलौकिक आदर्श है। एक रघुवंशी राजा शिवि ने कपोत पक्षी को बचाने के लिए अपने शरीर का मांस खान ह अर्पण किया था ; महाभारत में लिखा है कि एक कपोतपक्षी और उसकी स्त्री ने अपने खोंते (आश्रम) के समीप आये हुए कातर और क्षुधित व्याधा को, जो उनका हिंसक था, अतिथि समझ कर अपने पारस्परिक माया मोह को भूलकर एक साथ अग्नि में कूद कर उस नवागत अतिथि व्याधा की क्षुधा की तृप्ति की।

दूसरी कथा महाभारत में यह है कि एक समय विकराल अकाल के समय एक ब्राह्मण ने, जो सपरिवार (चार व्यक्ति) एक महीने से भूखे थे, किसी प्रकार एक सेर सत्तू कहीं से प्राप्त किया किन्तु भोजन करने के समय ही एक अति क्षुधित अतिथि का उनके पास समागम हुआ और उस की विनीत प्राथना पर उन्होंने सपरिवार अपने २ अंश को सहर्ष उन्हें समर्पण कर दिया। इस एक सेर सत्तू के दान का फल युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से भी अधिक उत्तम हुआ।

श्रीबुद्धदेव की अहिंसा

जातक में कथा है कि भगवान् बुद्धदेव किसी पूर्वजन्म में स्वर्ण वर्ण के हिरण होकर एक बड़े यूथ के नायक हुए और इनका नाम वट-हिरण था। हिरणों का एक दूसरा यूथ भी था और उसके नायक का नाम शाखा-हिरण था। किसी

कौशल से हिरणों के ये दोनों यूथ राजा के एक बड़े घेरे में कैदी हो गये। राजा ने यूथ के दोनों नायकों को अवध्य ठहराया और एक २ हिरण प्रत्येक दिन लेना निश्चय किया जिसको नायक को प्रत्येक दिन चिट्ठा (लाट) द्वारा निश्चय करके एक नियत कठघरे में भेजने की आज्ञा दी। प्रत्येक दिवस चिट्ठा से निश्चित हिरण कठघरे में भेजा जाने लगा और वहां से राजा के भृत्य उसको मारने के लिए ले जाया करते थे। एक दिन शाखा-हिरण के यूथ की एक हिरणी के जाने की पारी आयी परन्तु हिरणी गर्भवती थी। अतः उसने अपने नायक से प्रार्थना की कि "गर्भ के कारण मैं अभी राजा के भोजनार्थ न भेजी जाऊं किन्तु प्रसवानन्तर प्रसन्नता से मैं चली जाऊंगी"। नायक ने उसकी एक न सुनी और कहा "आज तुम्हारे बदले भला दूसरा कौन भेजा जावे? क्योंकि अभी दूसरे की पारी नहीं आयी है" उस हिरणी ने दूसरे यूथ के नायक वट-हिरण के समक्ष जा अपनी दुरवस्था की सूचना दी। उसको सुन कर उक्त नायक ने अत्यन्त दयार्द्र हो उसको कठघरे में जाने से मना किया और कहा कि तुम्हारे बचाने का प्रबन्ध मैं कर देता हूं। नायक वट-हिरण ने स्वयं उस हिरणी के बदले कठघरे में अपने शिर को अर्पण किया ताकि उनकी हत्या से उस हिरणी के प्राण बच जावें। जब राजा के पाचक ने आकर देखा कि उस दिन यूथ का नायक स्वर्णवर्ण का स्वयं वट-हिरण ने कठघरे में अपने शिर को अर्पण किया है, जो अवध्य है, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। राजा के

पास जाकर इस विषय की सूचना दी। राजा ने स्वयं कठघरे के पास आकर कठघरे में आने का कारण नायक से पूछा। नायक ने कहाः—"राजन्! मैं एक गर्भवती हिरणी, जिसकी आज पारी थी, उसकी रक्षा के लिए अपने शरीर को सहर्ष समर्पण करने आया हूँ"। कियत् काल तक चुपचाप रहने के बाद राजा ने कहाः—"नायक! मैंने आज तक मनुष्यों में भी ऐसा त्याग और दया नहीं देखी, अतएव आज के दिन से कोई हिरण मैं पाक के लिए न लूंगा, और तुमको और उस गर्भवती हिरणी को भी मुक्त करता हूं"। नायक ने कहा—"मेरे दो के मुक्त होने ही से क्या? जब शेष सबोंके प्राण संकट में ही रहे।" राजा ने कहाः-"अच्छा! तुम्हारे इस परम उत्कृष्ट त्याग के कारण मैं सभी हिरणों का त्याग करता हूं। पुनः नायक ने कहाः—"राजन् घेरे के हिरणों के मुक्त करने से ही क्या होगा, यदि बाहर के भी न हुए। राजा ने कहाः—"अच्छा! मैं आज से हिरण-मात्र को अवध्य ठहराता हूं"। फिर नायक ने कहाः—"प्रभो! केवल हिरण जाति के मुक्त करने ही से क्या? यदि पशु-समाज मुक्त न हुआ?" राजा ने कहाः—"नायक! मैं तुम्हारे त्याग और पुरुषार्थ के कारण चतुष्पद पशुओं को भी अवध्य करता हूं।" नायक ने सनम्र निवेदन किया कि "दीनदयालु! पशुओं पर दया करने से ही क्या हुआ? जब कि बिचारे पक्षियों पर दया न की गयी"। राजा ने कहा—"अच्छा! मैंने तुम्हारी इस उदार प्रकृति के लिए पक्षियों को भी अवध्य किया"।

फिर नायक ने कहाः—"स्वामी ! ये सब तो मुक्त कर दिये गये, पर वे दीन मीन जो जल में रहते हैं उनकी दशा तो नहीं सुधरी ।" राजा ने कहाः—"अच्छा ! आज से मछलियों को भी मैं अवध्य ठहराता हूं"। इस प्रकार उस नायक ने अपने त्याग द्वारा इतने प्राणियों की रक्षा कर राजा को भी प्रायः अहिंसक बनाया।

जातक में एक और कथा इस प्रकार हैः—भगवान् बुद्ध ने अपने एक जन्म में एक बार मगध देश में भी जन्मग्रहण किया था और तब वे एक प्रतिष्ठित ब्राह्मणकुमार के नाम से सुविख्यात हुए। वे ग्रामीण मनुष्य के उपकारार्थ सदा संलग्न रहा करते थे। इतना ही नहीं, उन्होंने ग्राम के अन्य ३० युवकों को भी अपने सत्संग द्वारा सदाचारी और परोपकारी बना सद्धर्म के मार्ग पर अग्रसर कराया। वे सभी प्रातःकाल उठ कर सड़कों की सफाई, पुल और तड़ागों का जीर्णोद्धार तथा धर्म्मशालाओं का निर्माण करते थे। सुपात्रों को दान भी प्रदान करते थे। ब्राह्मण-कुमार के नेतृत्व में जो उपकारी कार्य्य हुए उनका उत्तम प्रभाव ग्रामीण लोगों पर ऐसा पड़ा कि वे सबके सब सदाचारी हो गये। और दुराचार से विरक्त हो गये। ग्राम के मुखिया के पास जो पहले नशाबाजी आदि के अपराधी दण्डार्थ भेजे जाते थे उनका जाना बन्द हो गया। अतः मुखियों को जो रुपये की आमदनी उस कार्य से थी वह भी बन्द हो गयी।

इस कारण ब्राह्मणकुमार के प्रति उसमें बड़ी अप्रसन्नता और प्रबल द्वेष उत्पन्न हुए, क्योंकि उसने सोचा कि इस ब्राह्मण-कुमार के कर्त्तव्य से ही मेरी आमदनी मारी गयी है और उसने ही सदाचार का विचार लोगों में प्रचार कर ग्राम के दोषों का मूलोच्छेद किया है। मुखिया ने ब्राह्मण-कुमार और उनके साथियों पर राजा के यहां यह अभियोग लगाया कि "वे लोग ग्राम में कुत्सित प्रथा का प्रचार करते हैं तथा स्वयं चोरी इत्यादि किया करते हैं। राजा ने उन लोगों को गिरफ्तार करने की आज्ञा दी। वे गिरफ्तार हुए। राजा ने उन लोगों के अपने समक्ष में आने पर उनके अपराध का बिना विचार किये यह हुक्म दिया कि इन्हें हस्ती के पद तले कुचलवा दो। ब्राह्मणकुमार ने अपने साथियों से कहा कि "भाइयो! इस असत्य दोष के निर्माता और राजा तथा हाथियों को ऐसे प्रेम की दृष्टि से देखो जैसा कि अपनी आत्मा को"। उन लोगों ने ऐसा ही किया। अब क्या था? हाथी उन निरपराधियों को कुचलने के लिए छोड़ा गया पर कितनी हूं चेष्टा करने पर भी उन लोगों के निकट तक भी न गया बल्कि चिग्घाड़ मार कर दूसरी ओर प्रयाण कर गया। पुनः दूसरा हाथी लाया गया, वह भी भागा। इस प्रकार कितने हाथी लाये गये, पर कोई भी हाथी उन लोगों का ओर अग्रसर नहीं हुआ। उप-स्थित दर्शकों ने समझा कि इन लोगों के पास कोई महोषधि है, जिसके कारण हाथी उनपर आक्रमण नहीं

करते। फिर क्या था? राजा की आज्ञा से उन बेचारोंकी बदन की तलाशी ली गयी, पर लोगों ने कुछ नहीं पाया। इसके बाद शंका यह की गयी कि ये लोग कुछ मोहिनी मंत्र का जप करते हैं जिसके कारण हाथी आक्रमण नहीं करता। तब ब्राह्मणकुमार से पूछा गया कि क्या तुम कोई मंत्र जानते और जपते हो? ब्राह्मणकुमार ने कहा—"हां, हम लोग सर्वोत्तम मंत्र जानते हैं" मंत्र के बतलाने की आज्ञा होने से ब्राह्मण-कुमार ने कहा कि मंत्र यही है कि हम लोगों में से एक भी किसी जीव की हिंसा नहीं करता, न बिना दी हुई वस्तु ही को ग्रहण करता है, न असत्य भाषण करता है, और न कोई दुराचार करता है। हम लोग मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करते। हम लोग दया और अनुकम्पा से पूर्ण रहते हैं। हम लोग दान और उपकार करते हैं। सड़क, तड़ाग, धर्मशाला आदि तैयार करते हैं। हम लोगों के यही सब मंत्र, शक्ति, और आश्रय हैं"। इन बातों का राजा पर बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ा और राजा को अहिंसा और त्याग के महत्त्व का ज्ञान हो गया। राजा ने ब्राह्मणकुमार और उनके साथियों को प्रचुर धन दिया और मिथ्यादोषारोपण करनेवाले मुखिया को उचित दण्ड दिया।

जातक में एक यह भी कथा है कि भगवान् बुद्ध पूर्वजन्म में एक समय काशी के राजा थे। उनका एक अमात्य बड़ा दुष्ट था, जिसको उन्होंने पदच्युत किया। उस अमात्य ने एक अन्य राजा को जाकर यह परामर्श दिया कि इस समय आप

काशी के राजा पर आक्रमण करें, अवश्य वह राज्य आप के हस्तगत होगा, क्योंकि वे आक्रमण का अवरोध कदापि नहीं करेंगे। राजा को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। तब उस अमात्य ने कहा कि आप थोड़े लोगों को भेज कर उनके किसी ग्राम पर आक्रमण कराइये जिसका यह परिणाम होगा कि काशीराज उन लुटेरों को दण्ड के बदले अर्थपुरस्कार प्रदान करेंगे।

निदान बहुत कहने पर राजा ने कुछ आदमियों को भेज कर राजा का एक ग्राम लुटवा लिया। लुटेरे पकड़े गये और राजा के सामने लाये गये। राजा ने पूछा कि तुम लोगों ने क्यों इस प्रकार का घृणित कार्य्य किया है? लुटेरों ने क्षुधा की शान्ति उसका कारण बतलाया। राजा ने कहा कि तुम लोगों ने इस अभाव की पूर्ति के लिए पहले ही मुझसे अर्थ की प्रार्थना क्यों न की? ऐसा कह कर राजा ने सबों को यथोचित द्रव्य की सहायता की और इस प्रकार के फिर निन्द्य कार्य्य करने को मना किया। इसपर भी उस राजा को विश्वास नहीं हुआ और फिर दूसरे दल को भेजा, पर वह भी लूटने पर पूर्ववत् पुरस्कार ही पाकर लौटा। पुनः तीसरी बार स्वयं काशी में ही लूट करने के लिए लोग भेजे गये, किन्तु वहां से भी वे राजा द्वारा पूर्ववत् ही सानन्द पुरस्कार पाकर लौटे। तब राजा को विश्वास हुआ और उसने काशीराज पर अपनी सेना के साथ आक्रमण किया। काशीराज के यहां ऐसी सेना थी

जो सहज ही में नवागत राजा को परास्त कर देती। मंत्री तथा सेनापति ने बार २ काशीराज से आज्ञा मांगी कि उक्त राजा का युद्ध द्वारा सामना किया जाय और आक्रमण रोका जाय, किन्तु राजा ने इस युद्ध की बात को अस्वीकार कर कहा कि "यदि उस राजा की इच्छा राज्य लेने की हो तो ले ले, पर मैं उसके साथ युद्ध कर हिंसा करना नहीं चाहता"। फिर क्या था, आक्रमण-कारियों ने काशीराज और उनके मंत्रियों को तुरत गिरफ्तार कर लिया। फिर उन लोगों की हत्या का प्रबन्ध किया गया। किन्तु राजा की सद्वृत्ति के प्रभाव के कारण श्रीपरमात्मा की कृपा से काशीराज अपने अमात्य के साथ असाधारण रीति से हत्या से बच गये। परिणाम यह हुआ कि आक्रमण-कारी राजा उस रज्य को विजित काशीराज को देकर स्वयं उनका रक्षक भृत्य होना स्वीकार कर वापस गया।

श्रीभगवान् बुद्ध के अन्तिमजन्म की कथा है कि एक राजा ने उनके अहिंसा के उपदेश से अप्रसन्न होकर आज्ञा दी कि जब वे नगर में भिक्षाटन के लिए प्रवेश करें तो मत्त हाथी से उनपर आक्रमण करा कर उनका प्राणान्त किया जाय। उनके शिष्यों को यह बात मालूम हो गयी और उन लोगों ने श्रीभगवान् बुद्ध-देव को ये बातें सुनादीं और भिक्षाटनार्थ नगर में प्रवेश करने से मना किया। भगवान् श्रीबुद्धदेव ने उस भय की कुछ भी परवाह नहीं की और अन्य दिवसों

की भांति उस दिन भी भिक्षाटन के लिए नगर में प्रवेश किया। फिर क्या था। मत्तगयन्द श्रीभगवान् का मर्दन करने के लिए छोड़ा गया, किन्तु वह हाथी उनके निकट जाते ही बकरी की तरह शान्त हो गया और कुछ भी श्रीभगवान् की हानि नहीं हुई। यह सब अहिंसा का प्रभाव है।

अहिंसा की व्यापकता।

अहिंसक की दया और परोपकार की परिधि केवल मनुष्य ही तक अथवा एक देशमात्र ही तक नहीं रहना चाहिए किन्तु विश्वव्यापी प्राणिमात्र के लिए होना चाहिए। जो प्राणी जितने अधिक कमज़ोर, निःसहाय और नीची श्रेणी में हैं, वे उतने अधिक दया और त्याग के पात्र हैं। अतएव पशु-पक्षी मनुष्य से भी अधिक दया और उपकार के पात्र हैं। इसका एक प्रबल कारण यह है कि वे मनुष्य के लिए मूक हैं; वे न अपना क्लेश प्रकट कर सकते हैं, और न प्रायः अपने को बचा सकते हैं। मनुष्य में भी जो गरीब, असमर्थ, निःसहाय, दीन, दुःखी, रोगी, अंधे, कुष्ठी और नीच श्रेणी के हैं, वे विशेष दया और उपकार के पात्र हैं, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। यथार्थ बड़ा वही है जो अपने से छोटे को सहायता देता है और उनके लिए स्वयं त्याग करता है। यही बड़प्पन का यथार्थ लक्षण है। जो अपने से नीचे के जीवों का उपकार नहीं करते, उनके अभावों को नहीं मिटाते और

उनको सुखी करने के लिए स्वयं क्लेश और त्याग नहीं करते, वे कदापि बड़े और उच्च नहीं हैं।

अहिंसक को पशु-पक्षी का मांस कदापि नहीं भक्षण करना चाहिए, क्योंकि उनमें भी परमात्मा का वास है और वे भी परमपिता परमात्मा के उसी प्रकार अंश हैं जैसा कि मनुष्य है, बल्कि उच्च दृष्टि से एक ही आत्मा मनुष्य और पशु-पक्षी में भी है। विज्ञानविद् आचार्य्य जगदीशचन्द्र वसु ने अपने आविष्कृत यन्त्र द्वारा यह सिद्ध कर दिखला दिया है कि एक ही प्रकार का जीवन मनुष्य और पशु-पक्षी में है। अतएव जीवनी शक्ति की दृष्टि से दोनों समान और एक हैं। अहिंसक को पशु-पक्षियों का निर्भय करने का यत्न अवश्य करना चाहिए। पशु-पक्षी मनुष्य के भोजन के लिए कदापि नहीं बनाये गये। मनुष्य का भोजन अन्न, जल, फल, शाक आदि हैं, मांस कदापि नहीं। कोई मनुष्य केवल मांस खाकर न स्वस्थ, न नीरोग और न जीवित रह सकता है, किन्तु करोड़ों मनुष्य बिना मांस- भक्षण के स्वस्थ और नीरोग रहते हैं। मांसखाने-वाले पशु जीभ से जल पीते हैं, और मांस न खानेवाले ओष्ठ से। मनुष्य जीभ से जल न पीकर ओष्ठ से पीता है, अतएव ईश्वर ने मनुष्य को मांस खाने के लिए कदापि नहीं बनाया किन्तु मांसभक्षण से निवृत्त रहने के लिए। मनुष्य का दाँत भी मांसाहारी पशु के समान नहीं है, यह भी एक उत्तम प्रमाण है। महाभारत पांचवां वेद है, अतएव उसका प्रमाण सबसे प्रबल है। महाभारत में कथा है—किसी ऋषि ने अतिथि के लिए पशु को

चार बैलों से हल चलाने की आज्ञा थी और दो बैल से हल-चलाना बहुत घृणित समझा गया है; किन्तु दो बैलों के हल में भी जो अधिक समय तक हल चलाते हैं ,जिससे बैलों को कष्ट होता है, वे अवश्य हिंसा करते हैं और शास्त्र ने उसको बड़ा पाप माना है। आर्य्यधर्म का भ्रातृभाव अथवा दया और मित्र की दृष्टि केवल मनुष्य ही के लिए नहीं है, किन्तु पशु, पक्षी, उद्भिज्ज तक विस्तृत है और इसी कारण प्रत्येक द्विज और शूद्र को तर्पण, करने के समय, जो नित्य का कर्म है, मनुष्य पशु, पक्षी, उद्भिज्ज, हिंसक जंतु सर्पादि और हिंसाकारी जीव राक्षस ,पिशाच आदि सबके हित की कामना करनी पड़ती है और इन सबके लिए शुभेच्छा तर्पण द्वारा प्रेषण करना पड़ता है। बलिवैश्वदेव में भी पशु पक्षी, चाण्डाल आदि निःसहायों को अन्न द्वारा तृप्ति करने की विधि है।

संसार में जितने हिंसक पशु-पक्षी आदि हैं, वे प्रायः मनुष्यों के हिंस्र स्वभाव के कारण उत्पन्न हुए हैं और इस कारण मनुष्यों को उनसे कष्ट मिलता है। यदि मनुष्य अहिंसक हो जाय तो पशु पक्षी आदि का हिंस्र स्वभाव बदल जायगा। जो मनुष्य हिंस्र स्वभाव के हैं उनको मनुष्य शरीर में रहते भी अभ्यन्तर से हिंसक पशु ही मानना चाहिए। पशु पक्षी में भी अनेक अहिंसक हैं। इस कारण हिंसक मनुष्य तो अहिंसक पशु-पक्षी से भी नीचे गिरे हुए हैं। जटायु पक्षी ने तो श्रीजनकनन्दिनी जानकीजी की रक्षा के लिए अपने प्राण तक का त्याग किया था। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने

उसके विषय में इस प्रकार लक्ष्मण से कहा थाः—"सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः । शूराः शरण्याः सौमित्रे ! तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।" अर्थात् हे लक्ष्मण ! सर्वत्र अर्थात् पक्षियों तक में भी साधु, धार्म्मिक, शूर, और दुःखी शरणागत की रक्षा करनेवाले देखे जाते हैं ।

भोजनार्थ पक्षी की हिंसा के समर्थक कहते हैं कि अन्न, शाक, आदि निरामिष भोजन में भी हिंसा है, किन्तु यह ठीक नहीं । प्रथम तो अन्न, शाक आदि जड़ को दुःख, सुख, जीवन मरण का ज्ञान और अनुभव चेतन के समान नहीं होता, किन्तु तोभी अहिंसक उनका व्यर्थ क्षय और व्यय नहीं करता और दूसरों को करने से रोकता है । श्रीपरमात्मा ने मनुष्यों के शरीर की रक्षा के लिए जो अन्न, शाक, आदि भोजन और वस्त्र परिधान आदि की व्यवस्था की है, उनके व्यवहार में कोई हिंसा नहीं है, क्योंकि वह श्रीपरमात्मा की इच्छा के अनुकूल है ।

यद्यपि अन्न शाक आदि भोजनीय द्रव्य हैं, तथापि अहिंसक इस जड़ जगत् का भी आदर करता है और इनको व्यर्थ नष्ट नहीं करता और आवश्यकतानुसार उनके व्यवहार करने में उनका उपकृत अपनेको समझता है और उनके कारण वह स्वयं भी त्याग करने में प्रवृत्त होता है । शास्त्र में लिखा है कि दंतधावन के लिए काष्ठ लेने के समय वृक्ष से प्रार्थना करनी चाहिए और क्षमा मांगनी चाहिए । पुराने समयों में पक्षी और वृक्ष भी आत्मीय समझे जाते थे और उनके निमित्त

कुशल प्रश्न पूछा जाता था। वाल्मीकिरामायण में लिखा है कि श्रीवशिष्ठ और श्रीभरतजी ने महर्षि भरद्वाज से उनके आश्रम के मृग, पत्ती और वृक्ष की भी कुशल पूछी। जैसा कि:—

"वशिष्ठो भरतश्चैनं प्रपच्छतुरनामयम्। शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु"॥

यह कदापि सत्य नहीं है कि अहिंसा और सत्य के अभ्यास से समाजनीति, राजनीति अथवा संसार के व्यवहार में बाधा और रुकावट उपस्थित होती है। इसके विरुद्ध सत्य यह है कि हिंसा और असत्य संसार के उत्पातों का मूल है और अहिंसा तथा सत्य की स्थापना से ही संसार में सुख शान्ति फैलेगी।

ऐसा ज्ञान अवश्य भ्रमात्मक है कि सांसारिक व्यवहार और परमार्थ दो हैं और आपस में विरोधी हैं। यथार्थ में व्यवहार और परमार्थ एक हैं और जो एकके लिए हित अनहित है, वह दूसरे के लिए भी वैसा ही है। धर्म द्वारा, जिसमें अहिंसा और सत्य प्रधान हैं, परमार्थ और सभी व्यवहार की सिद्धि होती है और धर्म की अवहेला से सांसारिक उन्नति भी कदापि नहीं हो सकती है। समाज-नीति, व्यवहार-नीति, व्यवसाय-नीति, राजनीति, इन सब के सम्पादन में धर्म का आधार रखने से ही इनसे यथार्थ लाभ की प्राप्ति हो सकती है और अहिंसा और सत्य का पालन इनकी सिद्धि के लिए परमावश्यक है।

आखेट की निन्दा।

आखेट अर्थात् शिकार द्वारा जीवों की हिंसा करना बहुत बड़ी हिंसा और भयानक पाप है और इसके द्वारा संसार को अत्यन्त हानि होती है। यों तो प्राणीमात्र का वध, आखेट अथवा अन्य प्रकार से भी, भयानक अवश्य है; किन्तु ऐसे पशु पक्षी जो किसीकी कोई हानि नहीं करते किन्तु किसी प्रकार लोगों का उपकार ही करते हैं, उन निःसहाय प्राणियों का वध करना महा घृणित और अत्यन्त पाप है। क्या इन निःसहाय और निरपराध जीवों के प्राण उनको वैसे प्रिय और आवश्यक नहीं हैं जैसे कि मनुष्यों को अपने ही प्राण? यदि हैं, तो इन निरपराध और निःसहाय की रक्षा के लिए कोई उपाय क्यों नहीं किया जाता? क्या यह प्रबल स्वार्थ-परता और अन्याय नहीं है कि मनुष्यकृत न्याय केवल मनुष्य और उनकी वस्तु की रक्षा करे और इनके अतिरिक्त इन निःसहाय पशु-पक्षियों की रक्षा का कोई प्रबन्ध न करे? क्या कोई इन लोगों की फरियाद नहीं सुनेगा? यदि मनुष्य-समाज इनकी हत्या का न्याय न करेगा और इनकी हत्या को जारी ही रक्खेगा, तो स्मरण रहे कि भविष्य में बड़ी भारी विपत्ति जनसमाज पर आ जायगी, क्योंकि श्रीपरमपिता परमेश्वर असमर्थ और असहाय की पुकार पर अवश्य ध्यान देते हैं। वर्त्तमान काल में जो अनेक प्रकार की विपत्तियां मनुष्य-समाज पर प्रायः आती हैं, उनका एक मुख्य कारण इन

पशु-पक्षियों की हिंसा भी है। समाज के नेताओं को चाहिए कि प्राणिवध और आखेट द्वारा भी जीवों के संहार के रोकने का अवश्य प्रबन्ध करें। इस निषेध के लिए आईन बनना चाहिए, नहीं तो वर्तमान से भी बहुत बड़े संकट के आने की अवश्य सम्भावना है। यह प्रायः देखा गया है कि जहां हत्या अधिक होती है वहां से प्रायः लक्ष्मी रुष्ट हो कर चली जाती हैं, क्योंकि श्रीलक्ष्मीनारायण को हिंसा असह्य है। हिंसा होने के स्थान में लक्ष्मी-विनाश के सिवाय अन्य प्रकार की विपत्तियां भी आती हैं। नारायण संसार के धारण, रक्षा और पालन करनेवाले हैं; अतएव उनको हिंसा परम अप्रिय है। जो हिंसा करेंगे, वे श्रीनारायण और उनकी शक्ति लक्ष्मी के पालन और रक्षा के आश्रय से क्रमशः वंचित हो जायंगे।

कुःसंग से असहयोग।

अहिंसक कुःसंग का त्याग अवश्य करता है, हिंसा और दुष्ट कर्म्म के करने से लोगों को रोकने का प्रबल यत्न करता है तथा कदापि उसमें किसी प्रकार से योग अथवा सहायता नहीं देता। भक्तिसूत्र का वचन है "दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः" अर्थात् दुष्ट-संसर्ग सर्वथा त्याज्य है। वाल्मिकीय रामायण में लिखा है कि इन्द्र ने एक ऋषि के तप को भंग करने के उद्देश्य से उनके पास अपना खड्ग रक्षित रहने के लिए छोड़ दिया। ऋषि उस खड्ग को सुरक्षित

रखने के लिए सदा अपने साथ रखने लगे और जङ्गल में जाने के समय भी साथ ले जाते थे। खड्ग को सदा साथ रखने का यह परिणाम हुआ कि वे हिंसक हो गये और अपने तप से भ्रष्ट हो गये। यहां विचारणीय यह है कि जब जड़ वस्तु के संग का इतना प्रभाव है तो सजीव के संग का कितना प्रबल प्रभाव होगा? अहिंसक झूठा, असत, अनुचित, दुष्ट और हिंसक व्यवहार की बुराई को अवश्य पूर्णरूप से दिखलावेगा जिससे लोग उन कर्म्मों से विरक्त हों, किन्तु हिंसक दुष्ट व्यक्ति के प्रति भी द्वेष भाव नहीं धारण करेगा और न उसकी क्षति करने की अभिलाषा करेगा। वह हिंसात्मक और अन्याय और अयुक्त कार्य्यकलाप का खंडन और उद्घाटन अवश्य करेगा किन्तु इनमें लिप्त रहनेवाले व्यक्ति से भी वह सद्भाव और प्रेम ही रखेगा और कदापि घृणा अथवा द्वेष उनके प्रति न करेगा। वह समझता है कि मनुष्य के लिए दोष में पड़ना असाधारण घटना नहीं है और वह अपनेको भी निरन्तर निर्दोष नहीं समझता है, किन्तु अपने दोषों का बड़ी कड़ाई से सदा निरीक्षण करता रहता है। अतः वह अन्य के दोष को जान कर व्यग्र नहीं होता, बल्कि स्थिर रह कर उसके दूर करने का यत्न करता रहता है। वह समझता है कि कमज़ोर व्यक्ति अपनी अज्ञानता के कारण दुष्ट कर्म्म में प्रवृत्त होते हैं। इस कारण अहिंसक उनकी बुरी अवस्था पर दया करके और उनको भी अपनी आत्मा का अविच्छिन्न भाग जान कर प्रेम से ही उनके

दोषों को हटाने का प्रयत्न करता है और प्रेम-भावना और उपकार द्वारा उनके सुधारने का यत्न करता है और इतने पर भी यदि सफलता न हुई, तो अपने ऊपर कष्ट लेकर भी सुधार करता है। किन्तु कदापि दोष के साथ सम्पर्क नहीं रखता।

आचरण की आवश्यकता।

अहिंसक तपस्वी केवल अपने हिंसक के हिंस्र स्वभाव के बदलेने के लिए यत्न कर रुक जाता है, ऐसा नहीं; किन्तु वह अपनी सामर्थ्य भर, जहां कहीं हिंस्र स्वभाव हो, वहां २ उस के शमन करने का यत्न करता है। उसका दयार्द्र चित्त हिंसा के निषेधार्थ यत्न किये बिना स्थिर रह नहीं सकता है। वह अहिंसा और उसके परिवार असत्य, स्तेय, काम, क्रोध, लोभ आदि को भी संसार में दमन करने का यत्न करता है, और अहिंसा सत्य,अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य्य, अक्रोध, और वैराग्य आदि के प्रचारार्थ प्रयत्न करता रहता है। वह प्रथम अपने समीपवर्ती को सुधारने का यत्न करता है और फिर अपने कार्य्य की परिधि को क्रमशः विस्तृत करता है। इस कार्य्य में उसको शुद्ध और परोपकारी आचरण और अपनी पवित्र भावना विशेष सहायता प्रदान करती है, जिनके बिना इस कार्य्य के लिए अन्य सब परिश्रम व्यर्थ हैं। जो जिस सद्-गुण का स्वयं अभ्यास नहीं करता, उसके विषय में उस व्यक्ति के उपदेश का बहुत कम, प्रायः नहीं के समान, प्रभाव दूसरों

पर पड़ता है। हां! जिस गुण में उपदेशक स्वयं दृढ़ और निपुण है, उसके विषय में उसका उपदेश और चेष्टा बहुत कुछ सफल होती है। बल्कि उस व्यक्ति के उपदेश किये बिना ही केवल उसके आचरण को देख और जानकर प्रायः दूसरे लोग सुधर जाते हैं। जनाब मुहम्मद साहब के पास एक बुढ़िया ने अपने लड़के को लाकर यह प्रार्थना की कि "हज़रत! यह लड़का बहुत गुड़ खाता है, जिससे यह प्रायः बीमार हो जाया करता है; अतः आप इसे ऐसा उपदेश (नसीहत) करें कि यह गुड़ खाना छोड़ दे'। हज़रत ने बुढ़िया को कई दिनों के बाद उस लड़के को लाने के लिए कहा। कई दिनों के बाद हज़रत ने लड़के को गुड़ न खाने का उपदेश दिया। फिर क्या था? लड़के की गुड़ खाने की आदत जाती रही। बुढ़िया ने हज़रत साहब से पूछा कि क्या कारण है कि पहले दिन इसको उपदेश न देकर कई दिन बाद लाने के लिए कहा? हज़रत साहब ने फ़रमाया कि उस रोज तक मैं खुद गुड़ खाता था, इस लिए मेरी नसीहत इसको फायदा नहीं कर सकती; जब मैंने गुड़ खाना खुद तर्क किया, तब इस लड़के पर मेरी नसीहत कारगर हुई।

उन्नत अहिंसक समझता है कि हिंसक की अज्ञानता, दुःख, दुष्कर्म आदि एकात्मभाव और समता के कारण मेरी अपनी अज्ञानता, दुःख और दुष्कर्म हैं, जिसके लिए मैं भी किंचित् उत्तरदायी अवश्य हूं; क्योंकि यदि मुझमें अज्ञानता अथवा दुष्कर्म अथवा दुःख उत्पन्न करनेवाले कर्म का लेशमात्र नहीं

रहता, तो वे भी इनसे विशेष कर प्रायः मुक्त रहते। अतएव वह दया के भाव से प्रेरित होकर उसकी अज्ञानता, दुःख और दुष्कर्म को अपना दोष समझ, उनके दूर करने का यत्न करता है और इसके लिए आवश्यक कष्ट भी सहन करता है और अपनेको भी बहुत विशेष उन्नत और पवित्र करने का यत्न करता है। ऐसा करने से सम्भव है कि केवल उनकी दृष्टि के समक्ष के हिंसक ही नहीं, किन्तु अन्य भी इस त्यागपूरित उपकार के कारण सुधर जायँगे; क्योंकि प्रत्येक भावना और कर्म का तदनुसार प्रभाव अदृश्य रूप से व्यापक होकर अनेकों पर पड़ता है। यह कल्याणमयी चिन्ता और उसके सम्बन्ध में उपयुक्त चेष्टा का कार्य्य परम मुख्य है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। यदि अहिंसक पर उसकी अहिंसा और परोपकारवृत अथवा अन्य कारण से अत्याचार और अन्याय का व्यवहार किया जाय, अथवा किसी प्रकार से विपद और क्लेश आन पड़े, तो अहिंसक को बहुत ही प्रसन्न होना चाहिए, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। क्योंकि अहिंसा और सत्य के लिए जो क्लेश बिना किसी प्रकार का क्लेशभाव उत्पन्न किये, प्रसन्नता से सहा जाता है, उससे सहनकर्त्ता का और संसार का भी बहुत बड़ा उपकार होता है। उसके क्लेशरूपी यज्ञ और प्रायश्चित्त से संसार का पाप घटता है और धर्म्म की वृद्धि होती है, यह श्रीपरमात्मा की साक्षात् परम प्रिय सेवा है। राजा हरिश्चन्द्र ने जो सत्य की रक्षा के लिए कष्ट सहा, उससे सत्य

को बड़ी वृद्धि और असत्य का बहुत बड़ा ह्रास हुआ और इसका प्रभाव अब तक विद्यमान है। यह अटल सिद्धान्त है कि हिंसा आदि दोष से केवल उसके कर्त्ता ही की हानि नहीं होती है, किन्तु संसार में उस दोष के प्रचार में उत्तेजना मिलती है जिसके कारण संसार की भी हानि होती है। इसी प्रकार अहिंसा आदि सद्गुण केवल कर्त्ता को ही लाभ नहीं पहुंचाते, बल्कि संसार भर में उसकी वृद्धि करते हैं। अतएव उनसे सबको लाभ पहुंचता है।

कष्ट के आने पर और हिंसा द्वारा उसकी निवृत्ति का प्रलोभन मिलने पर भी जो दृढ़ रहते हैं, वे भी अहिंसा धर्म का लाभ करते हैं। कष्ट के आने पर तो धर्म का विशेष अनुसरण करना परमावश्यक है। जीवों को जो कष्ट मिलते हैं, वे प्रायः उनके लाभ के लिए ही आते हैं; क्योंकि कष्ट पूर्व्वजन्मार्जित पाप का फल है जिसके भोगने से प्रथम तो पाप नष्ट होता और पूर्व्वकर्म के ऋण का परिशोध हो जाता है और उस कष्ट द्वारा अन्तरात्मा को अभ्यन्तर में संस्कार की भांति दृढ़ ज्ञान हो जाता है कि अमुक दुष्ट कर्म जिसका दुष्ट फल मैंने भोगा है, वह खराब है और कदापि करने योग्य नहीं है और इसके कारण वह उस दुष्ट कर्म्म को भविष्य में कदापि नहीं करता है। एक राजा के मंत्री का यह सिद्धान्त था कि जो खराब घटना आती है वह भी उपकार के लिए ही होती है। एक दिन राजा और मंत्री आखेट

के लिए वन में गये और किसी शिकार के प्रति धावा करने के कारण अपने दल से दूर निर्जन वन में चले गये। वहां दोनों एक कूंए के समीप घोड़े से उतर गये। राजा को भूख लगी थी जिसकी शान्ति के लिए मंत्री ने उन्हें अपने पास से एक फल खाने को दिया। राजा चाकू से उस फल को छीलने लगे, जिससे उनकी अंगुली कट गयी और वे दुःखित हुए। मंत्री ने अपने सिद्धान्तानुसार उन्हें कहा कि अंगुली कटना किसी अच्छे परिणाम के लिए ही हुआ है। राजा ने मंत्री की इस बात से क्रोधित होकर उनको उस कूंए में गिरा दिया। इसके बाद वहां जंगली लोगों की एक जमात आयी जो नरबलि के लिए एक मनुष्य की खोज में थी और उन लोगों ने राजा को बलि के लिए पकड़ लिया और ले जाने लगे। इतने में किसीने देखा कि राजा की एक अंगुली कटी हुई है जिसके कारण उन लोगों ने राजा को बलिप्रदान के लिए अयोग्य समझ छोड़ दिया और वे वहां से दूसरी ओर चले गये। तब राजा ने समझा कि मंत्री की बात ठीक थी। और अंगुली के कट जाने के कारण ही जान बची, ऐसा समझ अपने क्रोध पर पश्चात्ताप कर मंत्री को कूंए से निकाला और उस अपराध के लिए क्षमा मांगी। मंत्री ने राजा से कहा कि आपने तो मुझे कूंए में गिराकर मेरा बड़ा उपकार किया, क्योंकि यदि मैं बाहर रहता, तो मुझको जंगली लोग नरबलि के लिए अवश्य ले जाते, क्योंकि मेरा कोई अंग खंडित नहीं था। इस सिद्धान्त के अनुसार भी अहिंसक को अनुचित रूप से

कष्ट मिलने पर भी प्रसन्न ही रहना चाहिए और कष्टदाता से द्वेषभाव नहीं रखना चाहिए।

अहिंसक के लिए यह परमावश्यक है कि उसका चाल व्यवहार शुद्ध, स्वच्छ और निरन्तर सादा, आहार विहार शुद्ध और परिमित रहे, और वाह्य सामग्री आदि केवल आवश्यकतानुसार स्वल्प हो और वह कदापि अधिक निरर्थक व्यय न करे किन्तु मितव्ययी हो। उसको न विलासिता में अनुरक्त रहना चाहिए और न केवल दिखावट और प्रशंसा के निमित्त अपनी चाल और व्यवहार और व्यय को बढ़ाना चाहिए। उसको वस्त्र केवल शरीर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सादा और हस्तनिर्मित (अर्थात् हाथ से कता बुना) व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि हस्तनिर्मित वस्त्र के व्यवहार से विलासिता का भाव दूर होता है और अहङ्कार घटता है जो बहुत बड़ा लाभ है। दूसरा बड़ा लाभ इसके धारण से यह है कि इसके निर्माण द्वारा प्रायः गरीब लोग और असहाय विधवा आदि का निर्वाह होता है, जिसके कारण उक्त वस्त्र के व्यवहारकर्ता ही यथार्थ में उन दोनों की परवरिश करते हैं। इस कारण जो उक्त वस्त्र का व्यवहार नहीं करते, वे मानों उनकी दीन दशा के सुधार में उदासीनता दिखलाते हैं। लोगों का मुख्य धर्म है कि वे पहले अपने समीप के दीनों का उपकार करें, अतएव हस्तनिर्मित वस्त्र के प्रस्तुत करने में नानारूप से सहायता करनेवाले मानों समीपवर्ती गरीब लोग को सहायता उक्त वस्त्र के व्यवहार द्वारा करते हैं जो एक प्रधान उपकार का काम है।

जब कि समीपवर्ती अनेकानेक लोगों के पेट भरने के योग्य भी भोजन और केवल शरीराच्छादन और शीतनिवारण के निमित्त भी वस्त्र नहीं मिलते हैं, तो ऐसी अवस्था में जो इनके दुःख से कातर न होता और इनके निवारण के लिए यथासामर्थ्य चेष्टा न करता वरन इनकी उपेक्षा करता और केवल अपने अनावश्यक उपभोग के लिए अर्थ व्यय करता है, वह अवश्य दोषी है, क्योंकि दूसरे के अभाव को पूरा करने के लिए जो उसको फाजिल मिला है उसका वह अपव्यय करता है। श्रीमद्भागवत पुराण, स्कंध ७, अ० १३ में गृहस्थों के धर्म के वर्णन में लिखा है:—यावत् म्रियेत जठरे जावत् सत्वं हि देहिवाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।८। सिद्धिर्यज्ञावशिष्टार्थः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनाः। शेषे सत्वं त्यजन् प्राज्ञा पदवीं महतामियात्।१४। शरीरधारी को जितने में उदर की पूर्ति हो उतना ही उसकी अपनी वस्तु है किन्तु जो उससे अधिक को अपनाता है, वह चोर है और दण्ड का भागी है। जो यज्ञ अर्थात् देव, पितृ, मनुष्य, पशु आदि के कर्त्तव्यानुसार तृप्ति करने के लिए ही अपने उपार्जित अर्थ को व्यय करता है और इससे अवशेष पर अपना अधिकार त्याग देता है अर्थात् उसको दूसरों के हित में लगा देता है, वही ज्ञानी परमपद को प्राप्त करता है। विलासिता और अपव्यय का एक दोष यह भी है कि उसकी देखादेखी दूसरे लोग भी विलासिता और फजूलखर्ची करने लगते हैं जिससे वे प्रायः बड़े कीच में पड़ जाते हैं और अभाव की पूर्त्ति के लिए हिंसा

आदि अपराध करने लगते हैं। वे ही लोग उसके लिए दोषी हैं जिनके आचरण के प्रभाव से वे बिगड़ गये। अतएव परम सादी चाल को धारण करने से और विलासिता को त्याग करने से केवल उस व्यक्ति ही का लाभ न होता है किन्तु दूसरों का भी लाभ होता है, क्योंकि अच्छे अथवा बुरे आचरण का प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ता है। आजकल देखादेखी अनेक लोगों ने अनावश्यक वस्तु और व्यवहार को आवश्यक मान लिया है और यह अनेक दोषों और क्लेशों का कारण है। अतएव जो अपनी सादी चाल और शुद्ध आचरण से विलासिता और, फजूलखर्ची को रोकेंगे, वे संसार का बड़ा उपकार करेंगे और बहुत बड़ी हिंसा के कारण को दूर करेंगे।

यथार्थ सुख अन्तरात्मा की तुष्टि और शान्ति से मिलती है, न कि बाह्य सामग्रियों के लाभ से। आत्मा की तुष्टि केवल अहिंसा आदि सद्गुणों के लाभ से होती है; किन्तु वह हिंसा आदि दुष्कर्म से कलुषित और खिन्न हो जाती है। यथार्थ सुखी वे ही हैं जिनकी अन्तरात्मा पवित्र और शुद्ध है। बड़े धनी और मानी हिंसक जो सद्गुणों से वंचित और दुर्गुणों में लिप्त हैं वे कदापि सुखी नहीं हैं और न हो सकते हैं। उनकी अन्तरात्मा सुख की बाह्य सामग्रियों के उपयोग करने पर भी बहुत दुःखी और अशान्ति से दग्ध होती रहती है। कथा है कि एक समय देखा गया कि एक बड़े पुण्यशील पुरुष को चलते २ पग में कांटे के गड़ जाने से कष्ट हुआ और एक बड़ा

दुष्ट पुरुष भी उसी राह से जा रहा था। जिसको पांच सौ रुपये की थैली मिल गयी। एक महात्मा से किसीने इस बाह्य दृष्टि से अन्याय-मूलक घटना के होने का कारण पूछा। उत्तर में महात्मा ने कहा कि पुण्यशील पुरुष को पूर्व के प्रारब्ध कर्म के अनुसार आज फांसी पर लटकना था किन्तु उसके निरन्तर सदनुष्ठान ने उसके बुरे प्रारब्ध कर्म का ऐसा ह्रास कर दिया कि केवल वह कांटा गड़ने के कष्टमात्र तक रह गया और अवशेष कट गये। उस दुष्ट व्यक्ति को पूर्व प्रारब्ध कर्मानुसार आज राजगद्दी मिलनेवाली थी किन्तु उसके निरन्तर दुष्ट कर्म के सम्पादन का यह प्रभाव हुआ कि उसका उत्तम प्रारब्ध कर्म क्षीण हो गया और राज्य के बदले केवल उसे पांच सौ रुपये मिले। इस कारण अच्छे लोगों को कष्ट में और बुरे को सुख में देखने से कर्म के न्याय पर शंका कदापि नहीं करनी चाहिए। एक कष्ट से पीड़ित राजा को यह उपाय बताया गया कि जो व्यक्ति पूर्ण सुखी है और जिसको किंचित् भी दुःख नहीं है, उसके बिछावन पर सोने से उसे कष्ट से छुटकारा होगा। राजा ने सब बड़े २ राजा साहूकार आदि के यहां आदमी भेज कर दरियाफ्त किया कि उनमें कौन यथार्थ में सुखी है, किन्तु किसीने भी सुखी रहना नहीं कहा। अनेक अनुसन्धान के बाद एक फकीर मिला जिसने अपने को नितान्त सुखी बतलाया, किन्तु वह ऐसा त्यागी था कि उसके पास कुछ भी बिछावन नहीं था। इससे सिद्ध है कि यथार्थ सुख बाह्य सामग्री पर कदापि निर्भर नहीं है।

अपने और पराये की भावना की समानता

यदि किसीकी कोई निन्दा, हिंसा, अथवा हानि करे तो उस व्यक्ति को समझना चाहिए कि मेरे में स्वयं हिंसा, निन्दा, अथवा हानि करने का स्वभाव प्रगट अथवा अप्रगट हैं जिसके कारण दूसरेकी हिंसा आदि की प्रवृत्ति मेरी ओर हुई और उस हिंसा का प्रभाव मेरे पर पड़ा और यदि मुझमें स्वयं हिंसा आदि भाव किसी रूप में भी नहीं रहता, तो कदापि हिंसा आदि का आक्रमण मुझपर नहीं होता; यदि होता भी तो वह व्यर्थ हो जाता अथवा क्षुब्ध नहीं करता और उसके द्वारा मेरी कुछ भी हानि नहीं होती। अतएव किसीसे हिंसित निन्दित, पीड़ित होने पर हिंसक पर क्रोध न कर अपने पर क्रोध करना चाहिए ऐसा समझ कर कि मुझमें हिंसा आदि दोष अवश्य वर्तमान हैं जिसके कारण दूसरोंकी वैसी प्रवृत्ति मेरे प्रति हुई और ऐसा जान कर अपने दोषों को नष्ट करने का यत्न करना चाहिए जिसके लिए मुख्य साधन परोपकार करना और भी हिंसक के प्रति क्रोध न कर दया करना है, और उसको निरपराध समझना है। कथा है कि एक बादशाहके सामने जब २ उसका एक जागीदार आता था तब २ बादशाह के चित्त में उसके प्रति क्रोध और द्वेष उत्पन्न होता था किन्तु वह ऐसे भाव के उत्पन्न होने का कारण नहीं समझ सकता था। बात यह थी कि वह जागीर्दार अपने चित्त में यही भावना निरन्तर करता रहता था कि बादशाह बड़ा खराब और अन्यायी है।

कुछ दिनों के बाद कालान्तर पर जागीरदार ने समझा कि मेरी द्वेषपूर्ण भावना बादशाह के प्रति अनुचित है, क्योंकि बादशाह न्यायी और उपकारी है और वह सर्वदा प्रजा की भलाई करने के लिए यत्न करता है। ऐसा समझ उसने बादशाह के प्रति जो उसका द्वेषभाव था उसको परित्याग किया तथा श्रद्धा और प्रेम का भाव ग्रहण किया। इसके बाद जब वह जागीरदार बादशाह के सामने आया तो उस दिन बादशाह के हृदय में द्वेष और क्रोध की जगह उस जागीरदार के प्रति प्रेम और कृपा के भाव का आविर्भाव हुआ। इतना ही नहीं, बल्कि उस जागीरदार को कुछ पारितोषिक भी प्रदान करने की इच्छा हुई। बादशाह ने अपने भाव को इस प्रकार परिवर्तित होते देख बहुत ही आश्चर्य्य किया और जागीरदार से अपनी पूर्व्व और वर्त्तमान भावना सुनाकर इस नवीन परिवर्तन का कारण पूछा। जागीरदार ने भी अपनी पूर्व और आधुनिक भावना को कह सुनाया, अर्थात् पहले के द्वेष भाव और अबके श्रद्धा का भाव दोनों स्पष्ट रूप से सुना दिया। तब उन दोनोंको प्रतीत हुआ कि जैसी एककी भावना दूसरे के प्रति होती है वैसे ही दूसरेकी भी अन्य के प्रति होती है। अतएव यह स्पष्ट है कि अपनी भावना से ही मनुष्य शत्रु मित्र प्रगट करता और बनाता है। यदि मनुष्य अपनी भावना को शुद्ध और सर्वहित बनावे तो उसके शत्रु भी मित्र बन जावेंगे। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि राजा दशरथ पिछले समयों में न किसीको शत्रु समझते

थे और न कोई उनको शत्रु समझता था—न वे किसी से द्वेष रखते और न दूसरा कोई उनसे द्वेष रखता था।

बुरे प्रारब्ध कर्म का अनिष्ट फल भी, यदि उसके विपरीत, उपयुक्त भावना और कर्म किये जायं, तो बहुत कुछ ह्रास हो जाता है। ऐसा देखा गया है कि बड़े दीन व्यक्ति बड़े प्रबल व्यक्ति के क्रोध-भाजन होने पर और उनके द्वारा पीड़ित होने पर अपने अपकारी के प्रति द्वेष-भाव न रख कर केवल प्रेम और उनके कल्याण की भावना करने से ऐसे प्रबल शत्रु को सहज में मित्र बनाया है। श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है कि ,'कृपया भूतजं दुःखं जयेत्" जिसपर श्रीधरस्वामी टीका में लिखते हैं कि "येभ्यो भूतेभ्यो भयं जायते तेष्वेव कृपया हिताचरणेन", अर्थात् जिन प्राणियों से दुःख मिले उनपर कृपा कर उनके कल्याण के लिए यत्न करने से उस दुःख की शान्ति होजाती है। यह अटल नियम और सिद्धांत है कि हिंसा द्वारा न व्यक्ति, न समाज, न देश और न राष्ट्र को यथार्थ लाभ किसी प्रकार से कदापि हो सकता है और यदि कुछ सांसारिक लाभ मिले अथवा उसकी सम्भावना हो तो उसको मृगतृष्णा की भांति परम असत्य और केवल बनावटी समझना चाहिए। ऐसा लाभ कदापि यथार्थ में न सुखद और न स्थायी होगा, किन्तु कुछ काल के बाद उससे अवश्य बहुत बड़ी हानि होगी और पूर्व की दशा और पहिले से भी अधिक बिगड़ जायगी। रावणराज्य, कंसराज्य, कौरवराज्य, राक्षसों के राज्य आदि का व्यवहार और उनकी अल्पकालिक

बाह्य उन्नति और नितान्त अधःपतन पर विचारने से अहिंसा के महत्त्व और हिंसा की भयानकता स्पष्ट प्रतीत हो जायगी। यही कारण है कि आधुनिक काल में ऐसीरिया, बैबिलोन, चैल्डिया, इजिप्ट आदि देशों की प्राचीन सभ्यता बाहरी सामग्रियों से परिपूर्ण रहने पर भी हिंसा (अधर्म) के कारण नेस्तनाबूद हो गयीं। समूह पाप पुण्य और उसके समूह फल भी होते हैं, अर्थात् यदि किसी समाज अथवा देश के अधिकांश लोग कोई हिंसा अथवा अधर्म करते हैं तो उनका बुरा फल भी कालान्तर में समूह रूप में समाज अथवा देश को मिलता है, अतएव यदि कोई देश अथवा समाज समूह रूप से कष्ट में हो, तो समझना चाहिए कि पूर्व के समूह हिंसा का यह प्रतिफल है। इससे छुटकारा पाने का उत्तम उपाय यही है कि उस देश अथवा समाज के अधिकांश लोग, प्रायः नेतागण, अहिंसा और त्याग का अभ्यास कर अपने ऊपर कष्ट सहन करें, अर्थात् अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों की रक्षा के लिए त्याग स्वीकार करें और आवश्यक होने पर कष्ट को भी सहन करें। इस प्रायश्चित्त से पूर्व का समूह पाप कम जायगा और श्रीपरमात्मा उस समाज अथवा देश का इस त्याग और तपस्या के कारण त्राण करेंगे और वहां अभ्युदय का उदय अवश्य होगा। प्राचीन काल में भारतवर्ष में अन्य अत्याचारों के साथ २ अहिंसक बौद्धों पर जो अत्याचार किये गये, उसी पाप का यह फल हुआ कि भारतवर्ष के जनसमुदाय ने अपने धन, धर्म और बल को खोया और वे सब प्रकार से कमजोर हो गये और

इसीका एक परिणाम यह हुआ कि विदेशी राज्य की स्थापना हुई। उक्त समूह पाप के प्रायश्चित्त के लिए अहिंसा-धर्म का विशेष प्रचार करना परमावश्यक है, जिसके द्वारा ही कल्याण का लाभ होगा।

प्रशंसा और निन्दा की उपेक्षा।

जैसा कि पहिले भी कहा गया है, यथार्थ अहिंसक कदापि अपने परोपकार के कर्म की ख्याति नहीं चाहेगा, बल्कि वह उसको गुप्त ही रखेगा और ख्याति होने पर वह प्रसन्न होने की जगह अप्रसन्न ही होगा, क्योंकि वह दूसरों का परोपकार उनको अपने ही आत्मा समझकर करता है, अपनेसे एकदम पृथक् समझ कर नहीं। अपने कार्य्य के लिए प्रशंसा की चाहना आने पर अहिंसा की यथार्थ भित्ति जो एकात्म-भाव है वह नष्ट हो जाती है और उस भाव के बिना जो परोकार किया जाता है, वह क्रय, विक्रय की भांति है और यथार्थ परोपकार नहीं है। क्योंकि कर्त्ता ने अपने त्याग के बदले यश की इच्छा रखने से उसकी मानो कीमत ले ली। तब वह कर्म निष्काम परोपकार, जो यथार्थ अहिंसा है, नहीं रहा। ऐसे कामात्मक कर्म श्रीपरमात्मा को न अर्पण हो सकते और न ग्राह्य हैं और इस कारण उनसे संसार का स्थायी उपकार हो नहीं सकता है। बड़े २ अच्छे कार्य्यकर्त्ता भी, अपने काम की प्रशंसा की चाहना रखके अथवा समाचार-पत्रों द्वारा उनके काम और वक्तृता के प्रकाशित होने की

सान्त्वना रखने से, उनके प्रभाव को संकीर्ण कर देते हैं और इस कारण उनसे जो बहुत बड़ा उपकार निष्काम भाव रखने से होता, वह नहीं होने पाता है। उपकारी व्यक्तियों को निष्कामता पर पूरा ध्यान देना चाहिए। यथार्थ अहिंसक को परोपकार के करने से ही संतोष हो जाता है और वह उसको निज कर्तव्य समझ कर करता है, अतएव कार्य्य कर देने से ही उसे तृप्ति हो जाती है, प्रशंसा और यश से उसको कुछ भी गर्ज नहीं रहता। ऐसा तपस्वी अहिंसक केवल कर्त्तव्य पर लक्ष्य रखता है और उसकी सिद्धि असिद्धि में समान रहता है।

जो आत्मज्ञान और समभाव के अभाव के कारण अपने को दूसरों से पृथक् नामरूपधारी शरीर समझते हैं, वे ही अपनी व्यक्तिगत प्रशंसा, यश आदि चाहते हैं, जिससे वे अन्य से बड़े समझे जायं। किंतु समतानिष्ठ अहिंसक ऐसी वस्तु की चाह कदापि न करेगा, जिससे केवल उसका स्वार्थ-साधन मात्र हो और दूसरोंको उसके द्वारा साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से कुछ भी लाभ न हो। इस कारण केवल ऐसी स्तुति, यश और प्रशंसा, जिससे दूसरेको कुछ भी लाभ नहीं, उसकी चाह वह कदापि न करेगा। प्रशंसा की चाह और निन्दा का भय दोनों दुःखद हैं। प्रशंसा से किसीकी कभी तुष्टि हो नहीं सकती है, क्योंकि यह जितनी मिलेगी, उतनी अधिक इसकी आकांक्षा बढ़ेगी—स्वार्थकामना का यही नियम है। और भी ऐसे सकामी लोग को प्रशंसा न मिलने से अथवा उपेक्षा होने से दुःख होता है और मिलने पर भी अभीष्ट के

अनुसार न होने अथवा स्थायी न रहने से भी क्लेश ही होता है। यदि कहीं प्रशंसा के बदले निन्दा हो गयी, तो फिर दुःख की सीमा नहीं रहती। क्यों कि अच्छे लोग और अच्छे कार्य्य की भी निन्दा बुरे लोग द्वारा होती है, अतएव निन्दा से कोई बच नहीं सकता और न यह सम्भव है कि अधिकांश लोग किसीकी प्रशंसा ही करेंगे। स्वयं श्री अवतारों की निन्दा की गयी। अतएव मनु का यह वचन बहुत ठीक है कि प्रशंसा को विष समझे और निन्दा से प्रसन्न हो। ऐसा करने से ही अहंकार का दमन होगा, जो बड़ा कठिन, किन्तु परमावश्यक है।

उचित प्रतिकार हिंसा नहीं है।

जिस प्रकार रोगी को व्याधि से मुक्त करने के लिए कभी २ कड़वी दवा दी जाती है और व्रण को आराम करने के लिए उसे चीरना पड़ता है, जिसके कारण तत्काल तो रोगी को कष्ट अनुभव होता है, परन्तु यह कष्ट उसके हित के लिए ही दिया जाता है; उसी प्रकार अवस्थानुसार दोष के दमन के लिए विवेकी लोग कभी २ कुछ ऐसा प्रयोग भी करते हैं जो उस समय किंचित् कष्टकर अवगत होता है, किन्तु उसका उद्देश्य उपकार ही करना है, न कि हानि। किन्तु भेद यही है कि अहिंसक विवेकी प्रेम और दया-भाव से उक्त प्रयोग का का व्यवहार करते हैं। यदि कोई अच्छा भी कार्य्य किसीके प्रति क्रोध के आवेग में आकर किया जाय तो उसका परिणाम

कर्त्ता और पात्र दोनों पर खराब ही होता है। यदि कोई किसी दोषी व्यक्ति से उसके दोष के कारण सहानुभूति न दिखला कर उससे घृणा करेगा और उसके साथ द्वेषभाव धारण करेगा, तो परिणाम यह होगा कि उस दोषी का दोष उसके प्रति घृणा और द्वेष किये जाने का कारण अधिक बढ़ जायगा, जिसके लिए वह भी अवश्य दोषी है; क्योंकि उसने अपनी घृणा औ द्वेष से उसके दोष की मात्रा को अधिक कर दिया। अतएव कुत्सित और दुष्कर्म्म से अवश्य घृणा करनी चाहिए, किन्तु किसी भी व्यक्ति के सुधार के लिए उचित उपाय करते रहने में भी उसकी दुष्टता के कारण कदापि उससे घृणा और द्वेष नहीं करना चाहिए, क्योंकि समझना चाहिए कि वह भी विश्वात्मा विराट पुरुष का एक भाग होने से उससे और दूसरोंसे आत्मा की दृष्टि से अभिन्न है, और यही यथार्थ दृष्टि है। दुष्ट और सज्जन दोनों एक आत्मसूत्र में सम्बद्ध हैं और इस निमित्त दुष्ट के प्रति भी घृणा और द्वेष करने से उसके दोष का प्रबल हो जाना सम्भव है, जिससे दोनों की हानि होगी। दया और प्रेम के भाव से प्रेरित होकर दुष्ट के दोष का परिशोध करने के लिए उचित उपाय करने से दोनों ही का क्यों, संसार मात्र का, मंगल होगा। यह परम सत्य सिद्धांत है कि जो दूसरे के एक दोष का नाश करेगा उसके दो दोष उसके कारण नष्ट हो जायंगे। इसलिए अपने दोषों को निर्मूल करने का यह एक उत्तम उपाय है कि दूसरों के दोषों को छुड़ाने का उचित प्रयत्न करे।

व्यवहार में यदि राजा अपराधी को उचित दण्ड उचित भाव से देते हैं तो वह हिंसा नहीं है, क्योंकि उक्त दण्ड समाज की रक्षा और उस अपराधी के दोष को छुड़ाने के लिए दिया जाता है। न्यायकर्त्ता को चाहिए कि क्रोधवर्जित होकर और अपराधी की अज्ञानता और कमज़ोरी का विचार कर और उसके सुधार के लिए दयार्द्र होकर उचित दण्ड देवे। दोषी को सुधारने के लिए उत्तम पक्ष यही है कि उसके अन्तर में जो उच्च स्वभाव और विवेक की शक्ति छिपी है उसको जागृत करना और उसके मन के मैल को दूर करने की चेष्टा करनी। ऐसा करने से वह प्रायः सदुपदेश को धारण कर लेगा और सुधर जायगा। इसके लिए आवश्यक है कि उसके प्रति क्रोध अथवा द्वेष का भाव नहीं उत्पन्न किया जाय, किन्तु दया और प्रेम दिखलाकर उसके दोष को शमन किया जाय। राजा का कार्य्य न्याय करना और दण्ड देना है, किन्तु अहिंसक तपस्वी का धर्म्म क्षमा ही करना है। दण्डकारण्य के ऋषियों ने स्वयं राक्षसों का अनिष्ट नहीं किया, किन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से उन दनुजों से रक्षा करने के लिए अनुरोध किया। विश्वामित्र ने श्रीभगवान् रामचन्द्र जी को शस्त्र की शिक्षा देकर राक्षसों का शासन करवाया, क्योंकि वे राजपुत्र थे और दुष्टों से रक्षा करना और उनका दमन करना उनका धर्म्म था, किन्तु उन्होंने अपने महर्षि धर्म्म के कारण उस कार्य्य को स्वयं नहीं किया।

दण्डकारण्य में श्रीसीताजी ने श्रीभगवान् रामचन्द्र से कहा कि आपको इस वन में खड्ग-धारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे कदाचित्, हिंसा हो जायगी, जो अनुचित है—क्षात्रधर्मपरायण क्षत्रियगण केवल आर्त्त की रक्षा करने के लिए ही धनुष धारण कर वन में विचरते हैं। श्री भगवान् ने उत्तर में यों कहाः—किंतु वक्ष्याम्यहं देवि ! त्वयैवोक्तमिदं वचः। क्षत्रियैर्धार्य्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।,३। ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः। मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः।४। तदवश्यं मया कार्य्यमृषीणां परिपालनम्। अनुक्तेनाऽपि वैदेहि ! प्रतिज्ञाय कथं पुनः।१६। वा. आर. स. १०।

"श्रीभगवान् ने श्रीसीताजी से कहा कि हे सीता तुमने स्वयं ही कहा है कि कोई आर्तनाद न करे, इसलिए क्षत्रिय धनु की धारणा करते हैं। इस दण्डकारण्य के वासी कठोर व्रतावलम्बी मुनिगण आर्त्त हो कर मुझको रक्षाकर्ता जान अपनी रक्षा के लिए स्वयं मेरी शरण में आये हैं। अतएव उन लोगों की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है और विना कहे भी मुझको ऐसा करना योग्य है, किन्तु कहने और प्रतिज्ञा करने पर तो बहुत ही आवश्यक है"। ऋषिगणों ने श्रीभगवान् रामचन्द्र को केवल राक्षसों से रक्षा करने के लिए ही निवेदन किया और श्रीभगवान् ने रक्षा करना स्वीकार किया। इसी कारण भगवान् प्रथम केवल उनकी रक्षा में ही तत्पर रहे। जब खरदूषण आदि राक्षसों ने उनपर आक्रमण किया, तभी वे उनसे युद्ध में प्रवृत्त हुए। श्रीनृसिंह भगवान्

ने भी हिरण्यकशिपु द्वारा प्रथम आघात पाने पर ही उसको दण्ड दिया।

राजा का धर्म न्यायकरना, समाज की रक्षा के लिए उचित दण्ड देना और साथ २ क्षमा भी करना है। न्याययुक्त दण्ड देने से राजा अपना धर्म करता है और उससे दोषी को भी लाभ होता है। कथा है कि एक ऋषि ने क्षुधा के कारण आटे की चोरी की और गेरूआ करने पर उन्होंने स्वयं राजा के पास जाकर अपने दोष को प्रकट कर दण्ड देने के लिए राजा से अनुरोध किया और कहा कि दण्ड नहीं पाने से मेरी हानि होगी और दण्ड पाने से मेरा चोरी का स्वभाव छूट जायगा। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है:—साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृति-पराक्रमौ। पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु। ।२६। कि. स. १७। दण्डो यः पातयेद्दण्डं दण्डो यश्चापि दण्ड्यते। कार्य्य-कारण-सिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः, ६७। कि. अ. १६। हे राजन्! साम, दान, क्षमा, धर्म, धैर्य्य, सत्य पराक्रम और अपराधियों को दण्प्रदान, ये सब राजा के स्वाभाविक गुण हैं। दण्डकर्त्ता को दण्डयोग्य व्यक्ति को दण्ड देने से, और अपराधी को दण्ड पाने से, दोनों अपना २ कर्त्तव्य करने और पालने से, दूषित नहीं होते हैं। अपनी रक्षा के लिए आवश्यक, युक्त और न्यायसंगत उपाय का अवलम्बन करना हिंसा के विरुद्ध नहीं है।

—o—

अहिंसाप्राप्ति की साधना।

अहिंसा की प्राप्ति के लिए हिंसा के दोष का ज्ञान प्राप्त करना और दया और प्रेम के भाव की वृद्धि करना आवश्यक है। शास्त्र में लिखा है कि किसी दोष का नाश उसके विरुद्ध गुण का स्मरण- चिंतन करने से होता है। अतएव हिंसा से निवृत्ति पाने के लिए हिंसा के दोषों का विचार कर उससे निवृत्त होने का दृढ़ संकल्प और हिंसा के विरोधी गुण दया, क्षमा, परोपकार, दूसरोंके हितके लिए त्याग, प्रेम, स्नेह, एकात्मभाव आदि के महत्त्व और उत्कृष्टता का चिन्तन स्मरण करना और जिनने महात्माओं ने उनका अभ्यास किया है और कर रहे हैं, उनके उक्त कार्य्य का अनुशीलन करना परम लाभकारी है। अहिंसक को प्रतिदिन नियत समयमें अवश्य, किन्तु अन्य समय में भी यथासम्भव, संसार से हिंसा की निवृत्ति और प्राणीमात्र के कल्याण के लिए भावना करनी चाहिए और जिन खास दोष की निवृत्ति और सद्गुण की प्राप्ति अथवा किसी व्यक्ति विशेष अथवा समूह के सुधार में वह विशेषरूप से यत्नवान् हो, उसकी विशेष भावना करनी चाहिए। श्रद्धा और निष्काम भाव से ऐसी भावना निरंतर करने से उसका उत्तम फल अवश्य होता है। इसी कारण द्विज और शूद्र तक को भी नित्य तर्पण करने की विधि है, जिसका तात्पर्य्य भावना द्वारा संसार का कल्याण करना है। इस तर्पण अर्थात् शुभ भावना द्वारा संसार के उपकार करने के यज्ञ को आजकल फिर से विशेष

जारी करना चाहिए, किन्तु भावना के अनुसार उपयुक्त चेष्टा भी करना आवश्यक है। ऐसी भावना के लिए आवश्यक है कि प्रतिदिन निम्नलिखित श्लोक कई बार उच्चारण किया जाय और उसमें जो संसार के कल्याण की शुभेच्छा है उसकी दृढ़ भावना की जाय। जैसा कि—सर्वेत्र सुखिनः सन्तु सर्वे संतु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्। पर यह शुभ-कामना का संकल्प और भावना ऐसा प्रबल और व्यापी हो कि इसका भाव अनवरत बना रहे। और भी अहिंसक साधक को सत्संगति में विशेष प्रवृत्त होना चाहिए और परोपकारी तपस्वी अहिंसकों का समागम, वार्त्तालाप, उपदेश और उनके परोपकारी कार्य्य में सहायता देना आदि कामों में रत रहना चाहिए। जैसा कि कहा जा चुका है, रोगी, दुःखी, गरीब, दीन, असमर्थ आदि की सहायता करने का मौक़ा उसको ढूंढ़ना चाहिए और मिलने पर उसका अभ्यास करना चाहिए। कदापि ऐसे अवसर को बिना उपयोग किये नहीं खोना चाहिए। अपने से अज्ञानी को विद्या और उपदेश आदि प्रदान कर उसके अंधकार और दोषों को दूर करना चाहिए। यह सब उपकारों में अधिक श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है और इसका साधन परमावश्यक है। किसीको ज्ञान प्रदान करने और उसके द्वारा उसकी दुष्प्रवृत्ति और मलीनता को नष्ट करने से जैसा स्थायी उपकार होगा, वैसा सांसारिक लाभ से कदापि नहीं।

प्रत्येक मनुष्य श्री परमात्मा का अपना प्रिय अंश होने के

कारण अन्तरात्मा की दृष्टि से शुद्ध और स्वच्छ है और उसमें परमात्मा की सब शक्तियां बीज रूप में निहित हैं। क्योंकि वह इन्द्रिय की लोलुपता और स्वार्थ से प्रेरित होकर हिंसा आदि दोषों में लिप्त रहकर कलुषित हो गया है, इससे उसका आत्मबल, जिसमें अमोघ शक्ति है, सुप्त की भांति ढंपा हुआ पड़ा है। अतएव सबका यह कर्तव्य है और यही सृष्टि का उद्देश्य है कि इस आत्मबल अथवा आत्म-शक्ति को जागृत करे।

आजकल जो लोग आत्मा को भूलकर नामरूपात्मक शरीर को ही आत्मा समझते हैं और इन्द्रिय के विषय-भोग को ही जीवन का लक्ष्य, और उसकी प्राप्ति के लिए जो पशुबल का प्रयोग करते हैं उसीको एकमात्र बल मानते हैं, यही मुख्य कारण आत्म-शक्ति के दब जाने का है। जितना ही स्वार्थ, अहंकार और इन्द्रियलिप्सा के कारण पशुबल का प्रयोग किया जाता है, उतना ही आत्मशक्ति दब जाती है और जितना ही स्वार्थ, अहंकार, इन्द्रियलोलुपता और पशुबल का दमन किया जाता है उतना ही आत्मशक्ति का उदय होता है। अतएव प्रथम विवेक द्वारा देहात्मक भाव को त्याग कर आत्म-भाव का ग्रहण करना, अर्थात् अपनेको परमात्मा का अंश आत्मा मानना, और फिर स्वार्थ, अहंकार और इन्द्रिय के विकार हिंसा क्रोधादि को दमन कर आत्मशक्ति का उत्थान करनेके लिए विशेष यत्न करना आवश्यक है। इसके लिए यह भी परमावश्यक है कि इस सर्वात्मभाव का निरंतर मनन किया जाय और सब प्राणियों को श्रीपरमात्मा का अंश मान

उनको भ्रातृ और मित्र भाव से निरन्तर देखा जाय। गीता का भी आदेश है कि अपनेको बुद्धि से उच्च आत्मा मानकर और उसमें स्थित होकर उस आत्मशक्ति द्वारा इन्द्रिय और उनके विकारों का निग्रह करना चाहिए। मुख्य साधना यह है कि श्री सच्चिदानन्द परमात्मा की असीम दया, अनुकम्पा, त्याग, जो वे सृष्टि के चलाने का कष्ट लेकर दिखला रहे हैं, उन पर मनन कर और उनको परम सुहृद सर्वात्मा जानकर भक्ति-भाव से उनकी निर्हेतुक उपासना की जाय, और जगत् के मंगल के लिए शक्ति पाने की प्रार्थना के सिवाय अन्य कोई कामना नहीं रक्खी जाय। श्रीपरमात्मा के पवित्र नाम, दिव्य गुण और रूप का स्मरण, चिंतन तथा ध्यान उपासना का मुख्य अंग है। नियत समय पर, जैसा कि प्रातः काल और संध्या आदि समय में, श्रद्धा और भक्ति भाव से श्रीपरमात्मा का स्मरण ध्यान और प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसा करने से ही दिव्य आत्मशक्ति प्राप्त होगी, जिसके बल से अहंकार और इन्द्रिय के काम क्रोधादि विकार पर, जो हिंसा के कारण हैं, विजय-लाभ होगा, अन्यथा नहीं। जो श्रीपरमात्मा की भक्ति और आत्मशक्ति की अवज्ञा कर केवल शारीरिक पशु-बल से अहिंसा आदि सद्‌गुणों की प्राप्ति करने और उपकारी काम के करने का भरोसा रखते हैं, वे अवश्य भूल करते हैं और धोखे में पड़ेंगे। ऐसे लोग बड़े विद्वान् और कार्य्यपटु क्यों न हों, तथापि बिना श्रीपरमात्मा की कृपा द्वारा आत्मशक्ति का लाभ किये संसार का यथार्थ उपकार कदापि नहीं कर सकेंगे।

अपने २ सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार श्रीपरमात्मा का स्मरण, कीर्तन, ध्यान करना चाहिए, क्योंकि इसमें हृदय का प्रेम-भाव मुख्य है और जिस किसी नाम और प्रथा से उपासना की जायगी, वह सब उनके चरणकमलों में पहुंचेगा, यदि भाव शुद्ध हो।

सब कार्यों के सम्पादन में श्रीपरमात्मा को न भूल कर किन्तु सम्मुख रख और निःस्वार्थ होकर केवल उनका काम समझ उनके लिए ही कर्म करना चाहिए और तभी उस काम से संसार का यथार्थ उपकार होगा। अहिंसक साधक को खाने पीने, परिवारपालन आदि के काम को भी श्रीपरमात्मा का काम समझ कर करना चाहिए, क्योंकि यथार्थ में शरीर, गृह, परिवार आदि सभी उनके दिये हुए उन्हींकी थाती हैं जिनके लिए कर्म करना उन्हींका काम है।

यथार्थ में सब उत्तम और शुभ कर्म केवल श्रीभगवान् की शक्ति द्वारा सम्पन्न होते हैं जिसमें कर्त्ता केवल निमित्तमात्र है। अतएव जो इन कर्मों के लिए अपना अहंकार और अभिमान प्रकट करते हैं, वे अवश्य अज्ञानी हैं। अर्जुन को जब महाभारत-युद्ध की जय का अहङ्कार हुआ तो वे ग्रामीण गोपालकों से हार गये।

श्रीपरमात्मा की इच्छा के अनुकूल संसार में अहिंसा आदि धर्म की वृद्धि और हिंसा आदि पाप का ह्रास करने के लिए सिद्ध महात्मागण सदा प्रस्तुत रहते हैं, जो ऋषि, पैगम्बर, फिरिस्ता आदि नाम से भी विख्यात हैं। इन लोगों में से कोई २

समय २ पर संसार के कल्याण के लिए लोक में प्रकट भी होते हैं। ये लोग और इनके दीक्षित शिष्य अपनी शुद्ध सात्त्विक कल्याणमयी भावना द्वारा संसार के कल्याण करने में सर्वदा प्रवृत्त रहते हैं और उपयुक्त पवित्र और निष्काम पात्रों में आत्मशक्ति को जागृत कर उनके द्वारा प्रकाशरूप से देश और समाज के हितैषी कार्य्य को करवाते हैं, जिसका प्रधान कारण वे स्वयं हैं और कार्य्यकर्त्ता प्रकाश में केवल निमित्तमात्र है। अतएव अहिंसक उपकारी साधकों को चाहिए कि अहङ्कार को त्याग कर श्रीपरमात्मा और उनके परम प्रिय इन अदृश्य सिद्धगण पर भक्ति रख कर ध्यान द्वारा उनसे विशेष शक्ति को प्राप्त करने का यत्न करें।

श्रीचैतन्य महाप्रभु के तीन उपदेश अवश्य स्मरणीय और पालनीय हैं। (१) जीवदया अर्थात् परोपकार (२) हरिनाम स्मरण और (३) शरीरदृष्टि से दीनभाव धारण। यह परमावश्यक है कि आजकल इन तीनों बातों का विशेष प्रचार किया जाय। नाम-स्मरण के लिए स्थान २ पर सभाएं स्थापित की जाय जिनके द्वारा नियत समय में संयुक्त हो कर लोग नाम-स्मरण अवश्य करें। व्यक्तिगत स्मरण तो प्रतिदिन होना चाहिए। नामस्मरण से आत्मबल प्रकाशित होगा।

अहिंसा अथवा अन्य सद्गुणों की प्राप्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि साधक हिंसा के निषेधात्मक और अहिंसा क प्रशंसात्मक और भी श्रीपरमात्मा की सर्वव्यापकता और समतासूचक वाक्यों का निरन्तर स्मरण करे। गीतादि शास्त्र

को पाठ कर कंठस्थ करने का यही अभिप्राय है कि इनके उप-देशों को हृदयंगम किया जाय और सदा स्मरण रखा जाय जिससे कि उनके विपरीत आचरण करने में उसके द्वारा तत्क्षणात् रुकावट मिले। अहिंसा के व्रती को "अहिंसा परमो धर्मः", "एको देवः सर्वभूतेषु गुह्यः", "सिया राममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युग पानी" "दयाधर्म का मूल है नरक मूल अभिमान"। खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः"। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इत्यादि वाक्य और उनके भाव का सतत मनन करना चाहिए। कुत्सित भावना अथवा किसी दुष्ट आचरण की प्रवृत्ति आने से इन वाक्यों के वारवार मनन द्वारा उसको दमन करना चाहिए।

किसी गुण की शुद्ध और दृढ़ भावना और निरन्तर चिंतन से भी उस गुण की प्राप्ति होती है, अतएव अहिंसा आदि गुणों का ऊपर कहे प्रकार से अवश्य चिंतन करना चाहिए। भावना और चिंतन का प्रभाव उत्तम अथवा निकृष्ट अवश्य होता है, क्योंकि मानसिक शक्ति बड़ी प्रबल शक्ति है। इस कारण दुष्ट संकल्प और भावना को रोककर शुभ और सद्गुणसूचक संकल्प और भावना के विशेष चिंतन में प्रवृत्त रहने से दुष्ट स्वभाव का दमन और सद्गुणों की प्राप्ति में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। सारांश यह है कि प्रथम अहिंसा की परमोपयोगिता और हिंसा की भयानकता का दृढ़ और परिपक्व

विश्वास और विवेक होना चाहिए, दूसरे हिंसा की निवृत्ति और अहिंसा के अभ्यास का अटल संकल्प और निश्चय स्थायी रूप में रहना चाहिए, तीसरे इस संकल्प और निश्चय को अभ्यास द्वारा कार्य्यों में परिणत करना चाहिए' और चौथे सत्सङ्गति और श्रीपरमात्मा के भजन, स्मरण, उपासना द्वारा इस व्रत के पालन की शक्ति को प्राप्त करना चाहिए और पांचवें श्रीपरमात्मा के सर्वात्मभाव को हृदयंगम और प्रत्यक्ष कर उसमें परिपक्वता लाभ करनी चाहिए। बुद्धि-जनित समता साधना के प्रारम्भ में आनी चाहिए; किन्तु अभ्यास द्वारा इसका अपरोक्ष ज्ञान केवल अन्त में प्राप्त होगा।

धैर्य्य की परमावश्यकता।

इस अहिंसा-व्रत में यह परम आवश्यक है कि परोपकार और त्याग का अभ्यास निरन्तर किया जाय, किन्तु उसके फल की आकांक्षा न करे और अपनी सेवा को श्री परमात्मा का कार्य्य समझ उन्हींको अर्पण करे, जिसके होने से वे जैसा चाहेंगे वैसा परिणाम उन सबसे संसार की आवश्यकता के अनुसार उत्पन्न करेंगे। अतएव अहिंसक को किसी कार्य्य की सफलता में विलम्ब अथवा उसके प्रतिकूल परिणाम होने से न कभी घबड़ाना चाहिए और न संसार में हिंसा और पाप की वृद्धि देख कर निराशा दिखलानी चाहिए। किन्तु जिस समय दोष की अधिकता, परोपकारी कार्य्य में शिथिलता और कार्य्यकर्ताओं में उदासीनता आदि बाधाएं उपस्थित हों

उस समय तो अधिक उत्साह और परिश्रम से कार्य्य करना चाहिए, क्योंकि उक्त समय में कार्य्य की अधिक आवश्यकता रहती है और उस समय का स्वल्प त्याग भी अन्य अनुकूल समय के वृहत् त्याग के तुल्य होता है। संसार की सब घटनाओं में पुरुषार्थ के सिवाय दैव और काल मुख्य हैं। इसी कारण सब कुछ अपने ठीक नियत समय पर आते हैं। दिन रात्रि आदि के परिवर्तन के तुल्य किसी बड़े कार्य्य की गति तेजी से चलने पर फिर उसमें शिथिलता आना आवश्यक नियम है, किन्तु यह शिथिलता मुख्य कार्य्य की क्षति नहीं करती, बल्कि उस समय में भी दृढ़ता धारण करने से अभ्यन्तर से उसमें विशेष शक्ति आजाती है, जो उसे अचल कर देती है। बीज पृथ्वी में देने ही से तत्काल उसमें से फल नहीं मिल सकता। इसलिए परोपकार में रत रहनेवालों के लिए दीर्घ धैर्य्य और श्री परमात्मा के भरोसे की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जिनमें धैर्य्य और अफलाकांक्षा का भाव नहीं है, वे कदापि यथार्थ परोपकारी और त्यागी नहीं हो सकते। इस अहिंसा में निपुण होना अथवा इसकी पराकाष्ठा में पहुंचना भी बड़ा कठिन है। इसके लिए अनेक यत्न और दीर्घकाल की अपेक्षा है और शनैः २ इसमें अग्रसर होना पड़ता है।

अहिंसक की कठिन परीक्षा।

अहिंसा के साधक की कठिन परीक्षा होती है और परीक्षा के लिए भेजे बाधा विघ्न आदि का पराभव करने से ही वह

अपने व्रत में दृढ़ होता है। उसको विश्वास कराया जाता है कि अहिंसाव्रत में रहने से तुम्हारा स्वास्थ्य खराब हो जायगा और बिना हिंसा के आश्रय के तुम शरीर से स्वस्थ अथवा नीरोग नहीं रहोगे; तुम्हारी आर्थिक दशा और सांसारिक व्यवहार अहिंसा के कारण बिगड़ जायंगे और अहिंसा का त्याग नहीं करने से तुम महाकष्ट में पड़ जावोगे। प्रायः अहिंसक को सांसारिक और शारीरिक कष्ट भी भोगना पड़ता है और उसको ऐसा कष्ट अहिंसा का फल रूप होना प्रतीत कराया जाता है। उसको अहिंसा से विरत करने के लिए ही अनेक प्रकार के मनुष्यकृत कष्ट भी दिये जाते हैं। अहिंसा के सिद्धांत से च्युत करने के लिए, हिंसा के आश्रय से कष्ट के निवारण होने और अन्य सुविधा प्राप्ति का प्रलोभन भी दिया जाता है। इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाएं इस मार्ग में आती हैं। किन्तु अहिंसक साधक को इन विघ्नों के आने पर भी अपने अहिंसा-व्रत से कदापि विचलित नहीं होना चाहिए। किन्तु विघ्न, भय और कष्ट के उपस्थित होने पर अधिक वेग से अपने निश्चय और अभ्यास में दृढ़ हो जाना चाहिए।

यह सनातन नियम है कि बड़े कार्य्य के सम्पादन में व्रती होने पर विघ्न बाधाएं अवश्य आती हैं। प्रायः ऐसी भावना भी आ जाती है कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति अभीष्ट है उसके लिए दीर्घ तपस्या के मार्ग का अनुसरण करना निरर्थक और अनावश्यक है, किन्तु एक सुलभ मार्ग के अवलम्बन करने से, जिसमें किंचित् निर्दिष्ट सिद्धान्त की अवहेला करनी

पड़ेगी, शीघ्र गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाना सम्भव है। यह यथार्थ में माया का भुलावा है, क्योंकि किसी अटल सिद्धांत के विरुद्ध चलने से सिवाय हानि के कदापि मंगल नहीं हो सकता। किन्तु ऐसी परीक्षा के आने पर जो कमज़ोर साधक होते हैं वे शीघ्र फल के पाने की लालच में पड़ कर और दीर्घ तपस्या और दीर्घ काल के बाद लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत न रहने के कारण और आवश्यक निष्कामता तथा धैर्य्य के अभाव से सिद्धान्त को त्याग कर भुलानेवाले सुलभ और शीघ्र-फलदायी मार्ग का अनुसरण करते हैं और इस कारण वे इस परम अहिंसा की तपस्या के मार्ग से च्युत हो जाते हैं। कमज़ोरों को अपनी कमज़ोरी का ज्ञान देने के लिए ही यह परीक्षा आती है। ऐसे कमज़ोर लोगों के विलग हो जाने पर भी दृढ़ अहिंसक तपस्वी-दल में विशेष शक्ति ही आ जाती है। ऐसे कमज़ोर लोग निष्ठावान् अहिंसक तपस्वी को भी प्रलोभन की बात कह कर विचलित करना चाहते हैं, किन्तु जो दृढ़ और व्रतनिष्ठ हैं वे इस प्रलोभन की उपेक्षा कर अपनी दीर्घ तपस्या के मार्ग में दृढ़ रहने से परीक्षोत्तीर्ण हो जाते हैं और तब से उनमें विशेष आध्यात्मिक शक्ति और बल आ जाते हैं। यह नियम है कि रुकावट और विरोध का सामना और प्रतिरोध करने से ही विशेष शक्ति की उत्पत्ति और प्राप्ति होती है; विघ्नबाधा प्रलोभन आदि का दमन होने से ये लाभ पहुँचाते हैं। अतएव इनके आने से खिन्न न हो कर हर्षित होना चाहिए। परिणाम तो स्पष्ट है कि जो सिद्धान्त में दृढ़

हैं वे ही लक्ष्य को प्राप्त करते हैं और सिद्धान्त के त्याग से अवश्य पतन होता है। धार्मिक सत् सिद्धांत त्रिकाल के लिए अटल हैं, जिनके पालन से सदा मंगल और जय होगी और उनके भंग करने से यदि विश्व का राज्य भी मिले तो भी वह माया का प्रलोभन और त्याज्य है, क्योंकि उससे यथार्थ और स्थायी उपकार कदापि नहीं होगा। विश्व के राज्य के लिए भी अहिंसा और सत्य का कदापि त्याग नहीं करना चाहिए।

अतएव विघ्न, बाधा, क्लेश, भय, प्रलोभन आदि के आने से और अपने साथियों को भी, मार्ग छोड़ते देखने से कदापि क्षुभित, उद्विग्न, निराश और भयान्वित नहीं होना चाहिए, किन्तु अपने व्रत में दृढ़ ही रहना चाहिए। इसी प्रकार यदि गुरुजन अथवा बड़े २ अधिकारी लोग भी श्रीपरमात्मा की प्रसिद्ध आज्ञा, जो अहिंसादि धर्म हैं उनके विरुद्ध आचरण करने के लिए कहें तो उस आज्ञा को नहीं मानना चाहिए और यदि ऐसा करने से कष्ट भी मिले तो प्रसन्नता से उस कष्ट का सहन करना चाहिए। यह भी परीक्षा है। श्री प्रह्लादजी जब हिंसक दैत्यकुल में अहिंसा, सत्य आदि का उपदेश और प्रचार करने लगे, तो उनके ऊपर जो अनेक विपज्जनक अत्याचार किये गये, वे उनकी परीक्षा के लिए ही थे, जिनमें दृढ़ रहने पर उनको अपने व्रत की सिद्धि प्राप्त हुई और श्रीभगवान् के दर्शन हुए। उनका पिता जो अत्याचार करता था उसके करने में वह केवल निमित्त मात्र था। यथार्थ

में इस परीक्षा की प्रेरणा प्रह्लाद जी को अपने व्रत में विशेष दृढ़ करने के लिए ही श्रीपरमात्मा की ओर से मायाद्वारा की गयी थी। हिरण्यकशिपु भी श्रीप्रह्लाद को अहिंसा और तपस्या के मार्ग से विचलित करना चाहता था और कष्ट देकर अपने (दैत्य के) हिंसामार्ग में लाना चाहता था, जिसमें त्याग के बदले सब प्रकार के सुख थे और उनके अनुसरण करने में कोई कठिनाई नहीं थी। वह अपनी समझ के अनुसार प्रह्लाद को, सुख के लिए ही तपस्या के मार्ग से विरत कर विषयसुख के मार्ग में लाना चाहता था। हिरण्यकशिपु दिनरात अपने पुत्र भक्त प्रह्लाद का चिन्तन करने लगा, जिससे उसका बहुत कुछ पाप नष्ट हो गया, क्योंकि भक्त और श्रीभगवान् में भेद कहां? श्रीप्रह्लाद के कष्ट सहकर भी अपने सिद्धान्त में दृढ़ रहने का यह परिणाम हुआ कि साक्षात् श्रीभगवान् नृसिंह रूप में प्रगट होकर श्रीप्रह्लाद को अपनाया और उसके पिता को भी मोक्ष दिया। अतएव हिरण्यकशिपु के अत्याचार से प्रह्लाद का बहुत बड़ा उपकार हुआ। श्रीप्रह्लादजी आदर्श अहिंसक हुए, क्योंकि उनके ऊपर प्राणान्तकारी अनेक अत्याचारों के किये जाने पर वे अणुमात्र भी क्षुभित न हुए और न उन्होंने क्रोध किया और न अत्याचारी के प्रति किसी प्रकार का द्वेष चित्त में आने दिया। वे सदा प्रसन्न, अपने व्रत में दृढ़ और अपने अत्याचारी पर सदय रहे। उन्होंने नृसिंह भगवान् से भी अपने पिता के लिए क्षमा ही मांगी। महात्मा यिसुक्राइष्ट ने शूली पर लटकाये

जाने पर भी अहिंसा के सिद्धांत में दृढ़ रह कर अपने हत्याकारी के पाप की क्षमा के लिए श्रीपरमात्मा से प्रार्थना की और इसी कारण वे महापुरुष माने जाते हैं। वल्मीकीय रामायण में लिखा है कि कैकेयी का श्रीभगवान् रामचन्द्र को वन में भेजना संसार के उपकार का कारण हुआ, अतएव वह निर्दोष थी।

अहिंसक को अत्याचार, उपद्रव आदि के आने पर थोड़ा भी नहीं घबड़ाना चाहिए, किन्तु प्रसन्न होना चाहिए। रुकावट और क्लेश के आने पर भी जब मनुष्य अपने सिद्धांत और व्रत में अटल रहता है, तभी वह उसमें दृढ़ होता है और रुकावट तथा क्लेश की परवाह न कर प्रसन्नतापूर्वक उनको सहन करने और अपने प्रण से कदापि च्युत न होने से ही उसकी अन्तरात्मा की अभ्यान्तरिक शक्ति प्रकट होती है और तब वह विशेष व्यापक परोपकारी कार्य्य के सम्पादन योग्य होता है। अतएव अहिंसक के लिए निर्भयता परम आवश्यक गुण है, जिसके उत्तम उदाहरण श्रीप्रह्लादजी हैं। इसके अन्य परमोत्तम उदाहरण श्रीसीताजी भी हैं, जो रावण द्वारा लंका में वन्दी होने पर और प्राण के नाश का दृढ़ निश्चय हो जाने पर भी किंचित् भयभीता न हुईं और न अपने पातिव्रत्य-धर्म से टलीं। इस परोपकार और त्याग के मार्ग में विपद और अत्याचार अवश्य आते हैं, किन्तु जो इनसे कुछ भी भय नहीं करता और आने पर प्रसन्नता से सहन करता है, वही परीक्षोत्तीर्ण होकर माया पर विजय-लाभ करता है

और परमात्मा के प्रिय कार्य्य को सम्पादन करता है। अतएव गीता में दैवीसंपत्ति का प्रथम गुण अभय कहा गया है। गीता के १२ अ० श्लोक १५ में क्रोध, भय, उद्वेग से मुक्त रहना भक्त का लक्षण बतलाया गया है।

जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, अहिंसक को कोई भी यदि अपने सिद्धान्त और सन्मार्ग से विचलित करना चाहे अथवा असन्मार्ग में लाने का यत्न करे और इसके लिए कष्ट भी प्रदान करे, तथापि उसको अपने सिद्धान्त और ईप्सित मार्ग और कार्य्य में ही दृढ़ रहना चाहिए, कदापि एक पग भी हटना नहीं चाहिए। यदि इस कार्य्य में गुरुगण भी प्रवृत्त हों, तथापि उनकी परवाह न कर अपने व्रत में दृढ़ रहना चाहिए, जैसा कि श्रीप्रह्लादजी ने पिता की दूषित आज्ञा को न मान कर किया। इसके अन्य उदाहरण भी हैं, जैसा कि बलि ने दान से निवृत्त होने के लिए अपने गुरु की आज्ञा को न माना, गोपियों ने अपने पति के आदेश को भी न मान कर श्रीभगवान् की शरण में आयीं, विभीषण ने पाप से असहयोग करने के लिए अपने भाई रावण का त्याग किया और श्रीभरतजी ने अपनी माता और राज्य का भी त्याग किया। अहिंसा सत्यात्मक सन्मार्ग के त्यागने से विपुल राज्य भी मिले, तो भी उस राज्य को काक की विष्ठा समझ कर त्यागना चाहिए। किन्तु धर्म के मार्ग को कदापि नहीं त्यागना चाहिए। राज्य के लाभ से न

यथार्थ सुख-शान्ति मिलेगी, न वह स्थायी रहेगा, किन्तु सद्गुण स्थायी सम्पत्ति है और यथार्थ सुख का देनेवाला है। समूह के लाभ के प्रलोभन में पड़के भी अहिंसा और सत्य आदि का कदापि त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि हिंसा और असत्य आदि से कदापि न व्यक्ति का, न समूह का, और न देश का लाभ होगा, किन्तु अहिंसा और सत्य आदि से ही होगा। यह परम सिद्धान्त सब समय के लिए अटल है। जो प्रलोभन में न पड़ कर सत् सिद्धान्त के पालन में दृढ़ रहते, वे अन्त में क्षतिग्रस्त न हो कर यथार्थ अभ्युदय और जयलाभ करते हैं और संसार को भी सुखी बनाते हैं।

रावण, कंस आदि राक्षसों ने पूर्व काल में हिंसा द्वारा बहुत बड़े विभव और राज्य की स्थापना की, किन्तु वे सबके सब अधर्म के कारण समूल नष्ट हो गये। हिंसात्मक कार्य्य का अंतिम परिणाम अवश्य सर्वनाश होता है। आधुनिक काल में भी फ्रेंच हिंसात्मक विप्लव से फ्रांस देश की बड़ी हानि हुई और उसके बाद वहां अनेक दिनों तक बड़े २ अत्याचार प्रजा पर किये गये और देश की दशा उत्तरोत्तर बहुत खराब हो गयी। रूस के विप्लव का भी उस देश पर बुरा प्रभाव पड़ा और उसके बाद वहां अन्य क्लेशों के सिवाय अकाल के आने पर देश देशान्तर की सहायता मिलने पर भी जो लोगों ने वर्णनातीत क्लेश को भोगा ,यहां तक कि मनुष्य को मनुष्य खाने लगे, यह सब उसी विप्लव की हत्या का परिणाम था। आजकल

भी उस देश की दशा परम शोचनीय ही है। आयर्लैण्ड की हत्या का भी बहुत भयानक परिणाम उस देश पर हुआ, यहां तक कि वे लोग आपस में ही हत्या और देश की सम्पत्ति को नष्ट कर तबाह हो गये। इंगलैंड इटाली में भी हिंसात्मक कार्य्य का परम शोचनीय परिणाम हुआ। गया के ३७वीं कांग्रेस के सभापति ने अपने भाषण में हिंसात्मक कार्य्य से राष्ट्र के लिए बुरे परिणाम के होने को अच्छी तरह दिखलाया है। कारण के समान कार्य्य होता है. इस कारण हिंसा और असत्य आदि जो परम निकृष्ट दुर्गुण हैं, उनके द्वारा व्यक्ति, समाज, अथवा देश को सिवाय भयानक फल के उत्तम फल कैसे मिल सकता है? श्री भगवान् बुद्ध के समय से ही यह नियम हुआ कि इस युग में धर्म-युद्ध सम्भव नहीं है, अतएव दुष्टों का सुधार इस काल में केवल प्रेम और तपस्या द्वारा होना चाहिए। श्री भगवान् बुद्ध ने स्वयं तपस्या करके यह सिद्ध कर दिया कि तपस्या (त्याग) से शक्ति प्राप्त कर केवल प्रेम और त्याग के आचरण से दुष्ट का सुधार होना अवश्य सम्भव है। आजकल युद्ध का एक बहुत खराब परिणाम यह भी होता है कि विजेता धर्म से विमुख हो जाते हैं और फिर धर्म के त्याग से उनका अधःपतन अवश्य होता है।

—*—

ब्रह्मचर्य्य ।

काम और क्रोध ये दोनों हिंसा के ही रूप हैं। केवल इन्द्रियों के दुर्वृत्तियों से प्रेरित होकर स्वार्थजनित अविहित कामोपभोग अवश्य हिंसा है, क्योंकि इससे दूसरों की बड़ी हानि अवश्य होती है। ऐसे कामोपभोग से कामी अपनी हानि करने के सिवाय सन्तति, परिवार, संगी, मित्र, समीपवर्त्ती आदि में भी अपने दुष्ट आचरण के प्रभाव से दुर्वृत्ति का बीज वपन करता है। और इस प्रकार उनकी बड़ी क्षति करता है। दूषित, अयुक्त अथवा अस्वाभाविक सहवास द्वारा उसके कर्त्ता और पात्र दोनों की बहुत बड़ी और व्यापक हानि होती है, अतएव यह घृणित हिंसा है।

अतएव अहिंसक को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना परमावश्यक है। ब्रह्मचर्य्य का यथार्थ भाव सब इन्द्रियों, विशेष कर जननेन्द्रिय को निग्रह करना है। गृहस्थ भी ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन कर सकता है, जिसकी विधि शास्त्र में कथित है, अर्थात् केवल सन्तानार्थ ऋतुकाल में अपनी धर्मपत्नी से सहवास करने से गृहस्थ भी ब्रह्मचारी ही रहता है। यम-धर्म का प्रथम अंग अहिंसा, द्वितीय सत्य, तृतीय अस्तेय अर्थात् अन्याय से किसीकी वस्तु नहीं लेना और चौथा ब्रह्मचर्य्य है। इस कारण अहिंसक के व्रत की, विना ब्रह्म-चर्य्य-पालन के, पूर्त्ति नहीं हो सकती है। ब्रह्मचारी के लिए वीर्य्य-रक्षा केवल, सात्विक भोजन और स्त्रियों के प्रति श्री

भगवती के अंश और भी माता, बहिन और लड़की के समान दृष्टि करना परम आवश्यक है। ब्रह्मचर्य्य से अनेकानेक शक्ति और विशुद्ध ज्ञान प्रचुर बल और उत्साह प्राप्त होते हैं। केवल ब्रह्मचर्य्य के पालन अर्थात् इन्द्रियों के निग्रह करने से ही मनुष्य का अपना सुधार हो जायगा और अहिंसा सत्य आदि का भी लाभ होगा और इस ब्रह्मचर्य्य की शक्ति द्वारा दूसरेको सुधारने और उपकार करने की शक्ति भी मिल जायगी। भीष्मपितामह, श्रीहनुमानजी, श्रीलक्ष्मणजी श्रीपरशुरामजी, आदि महापुरुषों ने ब्रह्मचर्य्य ही के कारण परम विस्मय-जनक और अद्भुत कार्य्यों को किया। ब्रह्मचर्य्य में इतना लाभ करनेवाले साधक को ब्रह्मचर्य्यद्योतक वाक्यों का अधिकतर मनन करना चाहिए, जैसा कि "विद्याः समस्ता-स्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।" "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्।" "शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥" इत्यादि। अपनेको बुद्धि से परे आत्मा मानने से और उसका विस्मरण न कर व्यवहार में भी इस आत्मभाव की दृष्टि सतत रखने से काम की जय करने में बड़ी सहायता मिलती है, जैसा कि गीता का उपदेश है। अहिंसकों का यह परम कर्त्तव्य है कि ब्रह्मचर्य्य के प्रचार के लिए विशेष यत्न करें और विशेष कर विद्यार्थीसमाज को ब्रह्मचारी बनावें और उनमें जो इसके विरुद्ध अपने अथवा दूसरोंके द्वारा दोष हैं, उनको अवश्य रोकें।

स्थान - में ऐसा विद्यालय बनाना चाहिए जिसमें ब्रह्म-चर्य्य-पालन और धार्मिक शिक्षा और चरित्रसंगठन पर मुख्य ध्यान रहे और आर्थिक शिक्षा के साथ २ धर्माचरण के अभ्यास पर मुख्य लक्ष्य रहे। बिना ऐसे ब्रह्मचर्य्य-पोषक शिक्षालय के स्थापित हुए न ब्रह्मचर्य्य का प्रचार हो सकता है और न युवागण यथार्थ अहिंसक सत्यवादी आदि ही बन सकते हैं।

दीर्घ तपस्या की आवश्यकता।

ऊपर जो कुछ साधना का उल्लेख है उनका पालन रूपी तपस्या दीर्घकालव्यापिनी होनी आवश्यक है, क्योंकि बिना दीर्घ अभ्यास के सिद्धि का लाभ हो नहीं सकता है। रघुकुल की कई पीढ़ी के राजाओं के तपस्या करने पर ही श्रीगंगाजी का आविर्भाव हुआ। स्वयं श्रीभगवान् रामचन्द्र ने भी वन में बारह वर्ष तक मुनिव्रत धारण कर मानों तपश्चर्या करने के उपरान्त ही लंका रूपी माया पर विजय प्राप्त कर हिंसा को रोका और इस तपश्चर्य्या के प्रभाव के कारण भालू बन्दर की सेना ने भी दुर्धर्ष राक्षसों को पराजित किया। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र ने भी अपने पिता, माता, पितृगृह आदि का त्याग कर कई वर्षों तक व्रज के प्रवास में रहकर और वहां अनेक आपत्तियों को भोग कर ,जो अवश्य ही एक प्रकार की तपस्या थी, हिंसा का दमन किया। श्रीभगवान् के प्रिय पाण्डवगण और द्रौपदी को भी वन में बारह वर्ष और उसके बाद एक वर्ष तक अज्ञा-तवास में रहकर तपस्या करनी पड़ी और इसके द्वारा आवश्यक

शक्ति को पाकर ही उन्होंने हिंसकों का दमन किया। महात्मा बुद्धदेव ने भी दीर्घ काल तक तपश्चर्या करके माया के ऊपर विजय पाया। अतएव यह सनातन और अचल नियम है कि महापुरुष भी दीर्घ तपस्या द्वारा त्यागधर्म का पालन और उसके निमित्त क्लेश को सहकर ही अभीष्ट प्राप्त करते हैं। ऐसा जान इस तपश्चर्या के मार्ग के अनुसरण करनेवाले को धैर्य के साथ अपने त्याग-व्रत में प्रवृत्त रहना चाहिए और अधिक काल के बीतने पर भी कदापि नहीं घबराना चाहिए। यह निश्चय है कि निःस्वार्थ और त्याग पूरित तपस्या जो श्री परमात्मा का कार्य्य मानकर संसार के उपकार के लिए की जायगी और इसके लिए जो क्षति और कष्ट सहन करना पड़ेगा, वह कदापि व्यर्थ न होगा। गीता में श्रीभगवान् का वाक्य है:—"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" "नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति" अर्थात् धर्म का थोड़ा अंश भी बड़े भय से त्राण करता है और उत्तम कर्म करनेवाला कभी भी दुर्गति नहीं पाता है। ऐसी त्यागपूरित तपस्या बाह्य से कष्टकर होने पर भी अंतर से परम सुखद और आनन्दप्रद है, अतएव परम वाञ्छनीय है। इस अहिंसात्मक तपस्या से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल मिलेंगे अर्थात् व्यक्तिविशेष, जनसमुदाय, समाज, देश, संसार आदि को यथार्थ सांसारिक लाभ भी होगा और परमार्थ में मोक्ष तक भी मिलेगा।

यथार्थ स्वराज्य ।

दीर्घ तपस्या के बाद ही यथार्थ स्वराज्य का लाभ होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अहंकार, द्वेष आदि अविद्या के दल जीवात्मा के परम शत्रु हैं और इन्हींके द्वारा अनेक प्रकार की हिंसा और असत्य आदि दुर्गुणों का प्रचार होता है। इन्हीं शत्रुओं ने जीवात्मा को आत्म-राज्य से, जो उसकी अपनी बपौती है, च्युत कर गिरा दिया है और दासत्व की शृंखला में जकड़ कर कैदी बना दिया है। इस आत्म-राज्य की प्राप्ति करना सबका परम और मुख्य कर्त्तव्य है और इसकी व्यापक सिद्धि से व्यष्टि और समष्टि दोनों प्रकार की यथार्थ स्वतन्त्रता मिलेगी। अतएव यह परम आवश्यक है कि हिंसा, असत्य, क्रोध, द्वेष, अभिमान, इन्द्रिय-लोलुपता, विलासिता, लोभ, अन्याय, धार्मिक और साम्प्रदायिक विद्वेष तथा मादक द्रव्य आदि से एक दम असहयोग किया जाय अर्थात् इनका त्याग किया जाय और हरिस्मरण, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, क्षमा, समता, सार्वजनीन प्रेम, परोपकार, त्याग, इन्द्रियनिग्रह (जिसमें विलासिता का त्याग और हस्तनिर्मित वस्त्र का व्यवहार और प्रचार मुख्य है), विरोध-परिहार (जिसमें पंचायत द्वारा विवादों का निपटेरा मुख्य है), दया, करुणा (जिसमें दीन, हीन, नीच को समता और प्रेम की दृष्टि से देख उनकी दीन-दशा का सुधार और उन्नति करना मुख्य है), त्याग, वैराग्य, तपस्या आदि के अभ्यास से

इन्द्रिय और मन के काम, क्रोध, हिंसा आदि दुष्ट स्वभावों को परिवर्त्तित और शुद्ध कर उनको शत्रु के स्थान में मित्र और सहायक बना आत्मा के स्वराज्य का लाभ किया जाय। यह भी आवश्यक है कि इन साधनाओं का विशेष प्रचार होने के लिए यत्न किया जाय, क्योंकि यथा-सामर्थ्य दूसरों के दोषों को नष्ट करने के लिए चेष्टा किये बिना और इस प्रकार अनेकों को इस संग्राम के लिए साथी बनाये बिना इस युद्ध में विजय-लाभ नहीं मिल सकता। गीता अ० ६ श्लोक ५ और ६ में स्पष्ट कथन है कि—

जीवात्मा का अपनी आत्मा अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रिय के दुष्ट (हिंस्र) स्वभाव के साथ, सहयोग करने से, वे शत्रु हो जाते हैं, किन्तु यदि अहिंसा, ब्रह्मचर्य्य, सत्य आदि के अभ्यास से आत्मबल की जागृति कर इनके दुष्ट स्वभाव का परिवर्त्तन किया जाय, तो वे मित्र बन जाते हैं।

आधुनिक काल के राजा कलियुग हैं जिनका मुख्योद्देश्य हिंसा, द्वेष, अन्याय, अत्याचार आदि की वृद्धि करना है। उनके साथ अवश्य असहयोग करना चाहिए। यद्यपि कलियुग राजा के साथ सहयोग करने से, अर्थात् उसकी इच्छा के अनुसार हिंसा, असत्य, अत्याचार आदि सेवा द्वारा उसके राज्य की पुष्टि करने से, बहुत बड़ी आसुरी सम्पत्ति, विभव और सुख का लाभ तो अवश्य होगा किन्तु इसका अन्तिम परिणाम सर्वनाश ही नहीं किन्तु आत्म-नाश तक होगा। इस कारण मनु का इस विषय में बहुत ठीक वचन है कि

"अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति'। अधर्म से आरम्भ में अधर्मी कुछ उन्नति करता है, तब अभिलषित वस्तु भी प्राप्त करता है, तत्पश्चात् अपने से निर्बल शत्रुओं को भी जीतता है, किन्तु अन्त में मूलसहित नाश हो जाता है। इस कारण कलियुग-राज्य की आसुरी संपत्ति के प्रलोभन में कदापि नहीं पड़ना चाहिए और उसके द्वारा बहुत बड़ी उन्नति के लाभ को तिलांजलि देना, वरन बाह्य कष्ट सहना लाभकारी है। अहिंसा, समता, परोपकार, दया, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, तपस्या इन्द्रियनिग्रह आदि दैवीसम्पत्ति का स्वयं अभ्यास और दूसरों को उनमें प्रवृत्त करना मानो कलियुगराज्य को यथासम्भव सत्ययुग राज्य (स्वराज्य) में परिवर्त्तित करना है। शरीर को आत्मा मान उसके सुख के लिए राजसिक, तामसिक भोजन, हिंसाचरण, भड़कीले कीमती वस्त्र आदि के व्यवहार द्वारा शरीर की शोभा बढ़ाना आदि जो आसुरी सम्पत्ति का प्रभाव है वह आत्मस्वराज्य का प्रतिकूल कार्य है। सात्त्विक भोजन, अहिंसा का अभ्यास, स्थानीय हस्तनिर्मित सादे वस्त्र का धारण करना आदि जिस भाव में शरीर केवल उपाधि समझा जाता है और आत्मा की पुष्टि मुख्य रहती है, वह दैवी सम्पत्ति है, जिससे स्वराज्य (सत्ययुग) की प्राप्ति अवश्य होती है।

यदि सम्पूर्ण संसार में एक समय में सत्ययुग राज्य का लाना सम्भव न हो, तथापि अनेक अहिंसक तपस्वियों की

उपर्युक्त चेष्टा से किसी एक देश में अथवा उसके एक भाग में कलियुग का राज्य-परिवर्तन कर अनेक अंश में सत्ययुग अथवा अन्तःसत्ययुग के स्वराज्य का लाना असम्भव नहीं है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि के हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, असत्य, लोलुपता आदि दुष्ट स्वभाव के साथ असहयोग कर और आत्मबल से उनको अहिंसा, त्याग, वैराग्य, सत्य, ब्रह्मचर्य्य प्रेम, दया, आदि में परिवर्तन कर मित्र बनाने से इस शरीर में, जो पिण्डाण्ड अर्थात् यथार्थ में एक छोटा ब्रह्माण्ड है, स्वराज्य की प्राप्ति हो जायगी। तैत्तिरीय उपनिषद् इसका वर्णन यों करता है:—" आप्नोति स्वराज्यम् "। जिस स्थान अथवा ग्राम के अधिकांश लोग इस प्रकार असहयोग कर आत्मबल से अपने २ अभ्यन्तर में स्वराज्य लाभ करेंगे वहां उस स्थान अथवा ग्राम को समष्टिरूप में स्वराज्य मिल गया। इसी प्रकार जिस प्रान्त अथवा देश के अधिकांश लोग इस प्रकार आत्मबल से इस आत्मस्वराज्य का लाभ करेंगे, उस देश अथवा प्रांत में यथार्थ में समष्टि-रूप में स्वराज्य स्थापित होगया। इस आध्यात्मिक स्वराज्य के मिलने से समष्टि आधिभौतिक स्वराज्य भी अवश्य मिल जायगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक स्वराज्य को बिना प्रथम लब्ध किये यदि नाममात्र का आधिभौतिक स्वराज्य मिल भी जाय, तो उससे लाभ के बदले बहुत बड़ी हानि होगी, क्योंकि अन्य बुराइयों के सिवाय एक बुराई यह होगी कि प्रबल लोग अपने स्वार्थसाधन के लिए निर्बल को सहायता करने के बदले उनपर घोर अत्याचार करेंगे।

इस आत्म-स्वराज्य की प्राप्ति से सब प्रकार के कष्ट, दुःख, क्लेश आदि एकदम दूर हो जाते हैं और अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है, जो इन्द्रिय-सुख के समान अन्त में क्लेश नहीं देता और नित्य होने के कारण कभी नहीं घटता है। गीता अ० ६ श्लो० २१ और २२ में इस सुख और लाभ का वर्णन है। आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों स्वराज्य की प्राप्ति मुख्य कर श्रीपरमात्मा के अहिंसा, सत्य, आदि धर्मोपदेशों के पालन द्वारा, उनकी भक्ति के लाभ और कृपा पर निर्भर है, किन्तु अन्यथा सम्भव नहीं है। अतएव इस महत् कार्य्य में मुख्य रूप से श्रीपरमात्मा को सम्मुख रख कर और उन्हींकी सेवा की भांति निष्काम भाव से सब कामों और अनुष्ठानों को करना परमावश्यक है। अहंकार के कारण श्रीपरमात्मा की अवज्ञा करने अथवा उनकी आज्ञा को भंग करने से इस कार्य्य की सिद्धि कदापि नहीं होगी। स्मरण रहे कि केवल विश्वास करना यथेष्ट नहीं है, किन्तु पुरुषार्थ और त्याग की भी बड़ी आवश्यकता है।

समष्टि आधिभौतिक स्वराज्य के पाने के लिए भी उचित यत्न अवश्य करना चाहिए, किन्तु ऐसा यत्न आत्मिक साधना से युक्त होकर होना चाहिए, जिसमें यथार्थ स्वराज्य का लाभ हो। पश्चिम के देशों में जहां कहीं केवल समष्टि आधिभौतिक स्वराज्य की स्थापना हुई है और जहां आध्यात्मिक का अभाव है, वहां की यथार्थ दशा परम शोचनीय है। उन देशों में स्वार्थ और उसका परिणाम पाप, रिशवत और अनेक प्रकार के

अपराधों की बड़ी वृद्धि है, सर्वसाधारण में गरीबी और कष्ट बहुत अधिक हैं और वे बड़े क्लेश से अपने दिनों को किसी प्रकार बिताते हैं। वहां सबसे भयानक यह है कि ईश्वर और धर्म से लोग एकदम विमुख हो रहे हैं, जो सर्वनाश का निश्चित लक्षण है। इन कारणों से ही गत काल में महायुद्ध वहां छिड़ा, जिससे वर्णनातीत हानि और कष्ट हुए और वे अबतक वर्त्तमान हैं। यदि इस चितावनी पर भी वे लोग नहीं सुधरेंगे और कलियुग से असहयोग न करेंगे, तो अवश्य उनका अधःपतन सब प्रकार से होगा। भारतवर्ष को पश्चिम देशों की केवल पार्थिव सभ्यता और स्वराज्य का कदापि अनुकरण नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक भाव को मुख्य रखने के कारण ही भारतवर्ष की सभ्यता लाखों वर्ष से अब तक जीवित है और इस बीच में अनेक बड़ी २ सभ्यता और राज्य की स्थाना हुई, किन्तु आध्यात्मिक भाव के अभाव के कारण उन सबका सर्वनाश हो गया। अतएव सब देशों, विशेष कर भारतवर्ष, को जो संसार का आध्यात्मिकता में गुरु है, अपने आध्यात्मिक अहिंसा आदि धर्म के भावों की विशेष वृद्धि कर यथार्थ स्वराज्य का लाभ करना चाहिए; जिसके होने से ही दुःख दारिद्र्य दूर होंगे और यथार्थ सुख-समृद्धि का उदय सर्वत्र होगा। भारतवर्ष को अन्य देशों में भी आध्यात्मिक भाव का प्रचार करना चाहिए।

महायज्ञ

जैसा कि ग्रहों की महादशा में उनकी अन्तर्दशा होती है, उसी प्रकार युग में भी अन्तर्युग होता है। एक दिनरात में भी चारों युग बीतते हैं। इसी नियम के अनुसार आजकल कलियुग में अन्तःसत्ययुग थोड़े दिनों से प्रारम्भ है। इसी अन्तर्युग का प्रभाव है कि चारों ओर अहिंसा, सत्य, त्याग, हरिभक्ति, हरि-स्मरण, ब्रह्मचर्य्य, दया, परोपकार, एकात्म-भाव और विलासिता का त्याग, उसके निमित्त हस्तनिर्मित वस्त्रों का प्रचार और व्यवहार, विवाद-शान्ति और पंचायतप्रचार और दीन, हीन, दुःखी, नीच आदि के दशा-सुधार आदि की चर्चा विशेष रूप से हो रही है और इनके सम्बन्ध में कार्य्य भी हो रहे हैं, जिनका थोड़े दिनों में ही आशातीत फल हुआ है। एक बंगाली भक्तप्रवर का कथन है कि सत्ययुग का आगमन हो गया और श्रीमद्भागवत पुराण में जो सत्ययुग के प्रवेश के समय में ग्रहों की स्थिति का वर्णन है वह करीब सन् १६२१ में देखी गयी। यह परमावश्यक है कि इस समय अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, दान, दुःखी, गरीब और छोटी जातियों की दशा का सुधार, धर्म और ब्रह्मचर्य्ययुक्त विद्या का प्रचार, विवादपरिहार और पंचायतप्रचार, प्रेम तथा मैत्री भाव का विशेष प्रचार. भिन्न २ मज़हब, धर्म और सम्प्रदाय के अनुयायियों में एकता और प्रेमभाव के व्यवहार को स्थापन करना, ब्रह्मचर्य्य, दया, समता, त्याग, हस्तनिर्मित वस्त्रों की विशेष उत्पत्ति और

व्यवहार, श्रीपरमात्मा का स्मरण, भजन, उपासना का विशेष प्रचार आदि के लिए विशेष यत्न सर्वत्र किया जाय। उपर्युक्त महत् कार्य्य को सम्पादन करना ही महायज्ञ है, जिसके साधन के लिए जो कुछ थोड़ा भी इस समय किया जायगा, उसका उत्तम प्रभाव और परिणाम समय के अनुकूल होने के कारण अवश्य अधिक रूप में होगा। ये सब श्रीपरमात्मा के अपने कार्य्य हैं और इनके साधन के लिए जो कुछ स्वल्प भी सेवा की जायगी, उसको वे सहर्ष स्वीकार करेंगे। वे अवश्य धन्य हैं जो इस समय निःस्वार्थ होकर केवल श्रीपरमात्मा के प्रीत्यर्थ इस महायज्ञ में, जो लोगों के कल्याण के लिए श्रीपरमात्मा के आदेश से हो रहा है, थोड़ा भी योग देंगे। इस समय की थोड़ी सेवा का भी बहुत अधिक प्रभाव और फल होगा, क्योंकि यह कार्य्य श्रीपरमात्मा की इच्छा के अनुसार हो रहा है। श्रीपरमात्मा के इच्छाधीन इस महायज्ञ के होने का एक प्रबल प्रमाण यह है कि लोगों के भाव में अहिंसा आदि सद्गुणों की उत्पत्ति, जागृति, प्रवृत्ति और अन्य आवश्यक उत्तम परिवर्त्तन अनेक महत् विघ्नबाधाओं के होने पर भी गत थोड़े दिनों में ऐसे प्रबल और व्यापक हुए हैं कि बिना श्रीपरमात्मा की कृपा और इच्छा के ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं है। अतएव इस समय सबों को अपनी २ सामर्थ्य और अवस्था के अनुसार हिंसा आदि भावको अहिंसा, सत्य, परोपकार आदि में परिवर्त्तन कर इस महायज्ञ में अर्पण करना चाहिए। यह परमावश्यक है कि लोग इस महायज्ञ को श्रीपरमात्मा का

कार्य्य और सेवा समझें, जिसके विना न इसके महत्त्व का ज्ञान होगा और न उचित सेवा ही हो सकेगी। श्रीपरमात्मा केवल भाव के भूखे हैं, इस कारण दीन गरीब द्वारा श्रद्धा और प्रेम से उनके निमित्त समर्पित एक मुट्ठ चावल भी उन्हें धनी के एक लाख रुपये से अधिक प्रिय है। लंका जाने के लिए समुद्र में सेतु के निर्माण में एक क्षुद्र जन्तु ने जो सेवा की, वह भी सहर्ष श्रीभगवान् को स्वीकृत हुआ। सर्वोंके लिए यह सुअवसर और सुसंवाद है। छोटे, बड़े, धनी, गरीब, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका, गृहस्थ, विरक्त, सर्वोंको इस समय अहिंसात्मक तपस्या द्वारा इस महायज्ञ में योग देना चाहिए। इस महायज्ञ की तपस्या के निमित्त न उपवास, न शरीरशोषण, न शीतघाम का सहन, न गृहपरिवार का त्याग आदि मुख्य अथवा गौण साधना हैं, किन्तु मुख्य साधना के निमित्त आवश्यक होने से इनका अभ्यास सहर्ष स्वीकार करना पड़ता है। इसमें मुख्य साधना अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, स्वार्थत्याग, समता, परोपकार, दीन, हीन, असहाय, दरिद्र और गरीबों की हीन दशा का सुधार कर उनके दुःख और कष्ट की निवृत्ति, विशुद्धाचरण, हस्तनिर्मित वस्त्र की विशेष उत्पत्ति और व्यवहार के निमित्त यत्न, विवाद परिहार और शान्ति-स्थापन, मादक द्रव्य के व्यवहार का परिहार, धर्म और ब्रह्मचर्य्ययुक्त विद्या का प्रचार, श्रीपरमात्मा का भजन, स्मरण, ध्यान, उपासना आदि हैं। इनका स्वयं अभ्यास करना और दूसरों को भी इनमें प्रवृत्त करना और

इसके लिए जो त्याग और क्लेश आवश्यक हो उसको सहर्ष स्वीकार करना, यही इस महायज्ञ की तपस्या है। जो लोग इस समय इस तपस्यारूपी महायज्ञ में कुछ भी योग न देंगे, वे अपनी बड़ी क्षति करेंगे, क्योंकि ऐसा सुअवसर फिर उन को नहीं मिलेगा। इस समय में ऐसे महत् कार्य्य में थोड़ी सेवा अन्य काल की दीर्घव्यापी और बृहत् सेवा से भी अधिक है, क्योंकि श्री परमात्मा ने स्वयं लोगों के उपकार के लिए इस महायज्ञ का सुअवसर भेजा है, जिसमें छोटे बड़े थोड़ी भी सहायता कर अपना और दूसरों का उपकार करें। यदि विशेष कुछ न हो सके तो प्रतिदिन श्रद्धा से संसार के कल्याण और इस महायज्ञ की पूर्ति के लिए तीव्र भावना और प्रेम-पूरित प्रार्थना श्रीपरमात्मा के प्रति करने से और यथासम्भव उसके लिए उपयुक्त आचरण करने से बहुत कुछ उपकार होगा।

यह महायज्ञ एकदेशी न हो कर विश्वव्यापी है, किन्तु भिन्न २ देश के लोगों को अपने २ प्रान्त और देश की वर्तमान अवस्था और उसकी आवश्यकता के अनुसार अपने २ स्थान और लोगों में सुधार के लिए उपयुक्त साधना करनी चाहिए। सर्वत्र अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, दम, परोपकार, श्रीपरमात्मा की भक्ति आदि के अभ्यास का प्रचार आवश्यक है। भारतवर्ष सब देशों का आध्यात्मिक गुरु होने के कारण यहां के लोगों का दायित्व इस महायज्ञ के पूर्ण करने में सबसे अधिक है। आजकल एक संस्था संसारभर में शान्तिस्थापन और युद्ध-

निवारण के लिए कायम हुई है जो इस महायज्ञ का फल-स्वरूप है। इस संस्था में अहिंसकों को योग देना चाहिए। इस काल में अन्याय और अत्याचार के रोकने का प्रतिकार केवल अहिंसा, सत्य, सहिष्णुता आदि द्वारा होगा, कदापि हिंसात्मक युद्ध द्वारा नहीं।

जिनको यह विश्वास है कि संसार की छोटी बड़ी सब घटना का होना न होना ईश्वराधीन है, मनुष्य केवल निमित्त-मात्र है, और ईश्वर के निर्धारित आदेश अहिंसादि धर्म सत्य हैं, उनको अहिंसा के प्रयोग से अत्याचार और अन्याय के रुकने में कदापि सन्देह नहीं करना चाहिए। ईश्वर में प्रेम और श्रद्धा रख के द्वेष से सर्वथा रहित होकर उनकी सेवा के निमित्त अहिंसा, सत्य आदि का प्रयोग करने से हिंसा, असत्य आदि अवश्य रुकेंगे, इसमें सन्देह नहीं। यदि केवल बाहर से अहिंसा किन्तु भीतर में हिंसा-द्वेष का भाव रहेगा, तो उसका उत्तम परिणाम कदापि नहीं होगा। आन्तरिक भाव ही मुख्य है। अन्तर से द्वेष-भाव के त्याग पर पूरा ध्यान रहना चाहिए।

अहिंसक साधकों को इस समय तपस्या और त्याग द्वारा ऐसे अहिंसात्मक समय के लाने का आदर्श अपने सामने रखना चाहिए, जैसा कि श्रीरामराज्य में था, जब कि हिंसा, असत्य, अन्याय आदि लेशमात्र नहीं थे और अहिंसा, ब्रह्मचर्य्य, सत्य, न्याय आदि की पूर्णता थी। श्रीरामराज्य के वृहत् वर्णन जो श्रीरामचरित-मानस में हैं, उनसे कुछ स्वल्प अंश यहां उद्धृत किया जाता है।

वैर न कर काहू सन कोई।
राम-प्रताप विषमता खोई॥
रामभक्तिरत नर अरु नारी।
सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुन्दर सब निरुज शरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लक्षण-हीना॥
सब गुणज्ञ सब पण्डित ज्ञानी।
सब कृतज्ञ नहिं कपट अमानी॥
सब उदार सब परउपकारी।
विप्र-चरण-सेवक नर नारी॥
एक-नारिव्रत सब नरनारी।
ते मन वच क्रम पति हितकारी॥
खग मृग बैर सहज बिसराई।
सबन परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना वृन्दा।
अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा॥

आज कल श्रीपरमात्मा के अनेक प्रिय भक्तगण इस महा-यज्ञ की तपस्या में प्रवृत्त हैं और इसकी आहुति में अपने स्वार्थ तथा तन, मन, धन और बुद्धि को त्याग द्वारा सहर्ष अर्पण कर रहे हैं। इस महायज्ञ की पूर्ति शीघ्र होने के लिए लोगों को अवश्य इसमें योग देना चाहिए, और इसमें कुछ भी विलम्ब

नहीं करना चाहिए। इसमें योग देनेवाले श्रीपरमात्मा के यथार्थ में बड़े प्रिय पात्र बन जायंगे।

विषमता का त्याग

विषमभाव संसार के अनर्थों का कारण है, जिसका त्याग परमावश्यक है, किन्तु इसके लिए समभाव का धारण आवश्यक है। विषमता को त्याग कर समभाव का धारण सब धर्मों का मूल है। इसके अभ्यास बिना न व्यक्ति, न समाज, और न देश की ही सांसारिक अथवा पारमार्थिक उन्नति हो सकती है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। विषमता के त्याग और समभाव के धारण का तात्पर्य्य यह है कि सब प्राणियों को श्रीपरमात्मा का पवित्र अंश मान सबोंमें उन का वास जानना और ऐसी दृष्टि से सबोंके साथ प्रेम का वर्ताव रखना, किसीको नीच न मानना, न द्वेष करना और यथा-सामर्थ्य और यथासम्भव उनका उपकार करना। यह श्रीपरमात्मा की सर्वोत्तम पूजा है। अन्य धर्मों में यह समभाव अथवा भ्रातृभाव केवल मनुष्य तक के लिए है, किन्तु आर्य्य-धर्म में मनुष्य से लेकर पशु, पक्षी और स्थावर तक के लिए है। इसी प्रकार किसी मनुष्य अथवा किसी जाति-विशेष अथवा अन्य प्राणियों को नीच मानना अथवा उनसे घृणा करना विषम-भाव अर्थात् महा पाप है। श्रीमद्भागवत् पुराण का वचन है :—" द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्न-दर्शिनः। भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति। २३।

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे। नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः। २४। आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्। तस्य भिन्नदृशोमृत्युं विदधे भयमुल्वणम्। २६। स्क० ३, अ० २६। हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः। इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्। ३२। एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः। एकान्त भक्तिर्गोविंदे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्। ५५। स्कं० ७. अ० ७। ततोऽर्चायां हरिं केचित्संश्रद्धाय सपर्यया। उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्। ६०, तत्रैव, अ० १४। गीता का वचन है :—

अहंकारं वलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः १२। अ० १६।

श्रीकपिल भगवान् कहते हैं—

जो भेददृष्टि रखते (अर्थात् दूसरों को नीच समझ उससे द्वेष रखते), अभिमान अपनेमें रखते, सब प्राणियों से वैरभाव रखते, और सब प्राणियों के शरीर के भीतर विद्यमान रहनेवाले मुझसे, उस प्राणी के द्वेष द्वारा, द्वेष करते, ऐसे पुरुष को कभी शान्ति नहीं मिलेगी। २३। हे निष्पापे देवहूति! थोड़े वा अधिक पदार्थों के द्वारा एकत्र की हुई सामग्रिया से प्रतिमा के भीतर पूजित होने पर भी मैं प्राणिमात्र का अपमान करनेवाले मनुष्य पर, कदापि सन्तुष्ट नहीं होता। २४। जो मनुष्य अपनेमें और अन्य प्राणियों में (जिन सबों में ईश्वर का वास अवश्य है) बहुत थोड़ा भा भेद मानता है, उस भेद-दृष्टिवाले मनुष्य को मैं मृत्युरूप

होकर अति दुःसह संसार देता हूं" ॥ २६ । दुःखहर्ता श्रीभगवान् सब भूतों में वास कर रहे हैं, ऐसा मान कर उनके जो जो मनोरथ हों तिनको पूर्ण करके उनका यथोचित सम्मान करना श्रीभगवान् की पूजा है । ३२ । श्रीभगवान् परमात्मा के प्रति एकनिष्ठ भक्ति और स्थावर जंगम रूप सकल प्राणियों में श्रीभगवान् हैं, ऐसा देखना, अर्थात् उनको आदर की दृष्टि से देखना, यही दृष्टि इस लोक में पुरुष के उत्तम स्वार्थ अर्थात् स्वराज्य (यथार्थ सुख) की देनेवाली है । ५५ । तब से कितने ही पुरुष प्रतिमा के ऊपर पूर्ण श्रद्धा रख कर उत्तम प्रकार की पूजा की सामग्री से श्रीभगवान् की पूजा करते हैं, तथापि पुरुष-द्वेषी, अर्थात् जो किसी मनुष्य को नीच समझ उससे द्वेष करते हैं, उनको प्रतिमापूजा करने पर भी उसका फल नहीं होता है । ४० । आसुरी बुद्धिवाले अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के वश रहते हैं और अपने तथा दूसरे के शरीर में अन्तर्यामी रूप से रहनेवाले मुझ (ईश्वर) से द्वेष रखते हैं और नीच समझते हैं।

यह समभाव उन्नति-मार्ग की सीढ़ी है और सज्जनगण दुष्टों के भी परम कल्याण की चिंता करते हैं, यह दोनों बातें बड़ी सुन्दरता से श्रीमद्भागवत पुराण, स्क० ७ अ० १३ के निम्नकथित वाक्यों में वर्णित हैं:—

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् । एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्य महात्मनि । ४२ । विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तं मनस्यर्थविभ्रमे । मनो वैकारिके हुत्वा तन्मायायां

जुहोत्यन्तु ।४३। एक मुनि ने श्रीप्रह्लादजी से कहा कि हे राजन् ! स्वभाव से विषम (भेद) भाव रखनेवाले पुरुष की मैं निन्दा अथवा प्रशंसा नहीं करता हूं, किन्तु निन्दा के विरुद्ध जिसमें उनको श्रीपरमात्मा की सायुज्य-मुक्ति मिलकर उनका परम कल्याण हो, ऐसी भावना करता हूं। सत्य दृष्टि-रखनेवाले मुनि बड़ी और नीच जाति और रूप के भेदभाव को मिटाकर चित्त में एकता करे, उस चित्त को आत्मा अनात्मा की भावना करनेवाले मन में लय करे, उस मन को सात्त्विक अहंकार में और उस अहंकार को महत्तत्त्व द्वारा आदि-प्रकृति में लय करे।

व्यक्ति अथवा समूह के कल्याण (स्वराज्य) की प्राप्ति के लिए विषमता का त्याग और समभाव के धारण का विशेष व्यवहार और प्रचार परमावश्यक है और इसका अभाव जो परस्पर का द्वेष है, वही वर्त्तमान समय में विशेष कर दुर्बल लोगों की अधोगति का कारण है, क्योंकि असमता अर्थात् द्वेष-भाव श्रीपरमात्मा को बड़ा अप्रिय है। असमभाव हिंसा है और समभाव अहिंसा है, क्योंकि असमभाव अर्थात् नीचपन की दृष्टि जिनके प्रति रक्खी जाती है उनको यथार्थ में उसके द्वारा बड़ा कष्ट होता है, अतएव यह अवश्य त्याज्य और गर्हित है। किन्तु इस सम-दृष्टि का धारण करना वर्णाश्रम का विरोधी कदापि नहीं है और इसका तात्पर्य्य सब जातियों का एक हो जाना अथवा परस्पर सहभोजन अथवा विवाह कदापि नहीं है। यह असमभाव सब देशों में किसी न किसी रूप में वर्त्तमान है।

श्रीपरमात्मा के विराट् रूप के सब वर्ण और जाति के मनुष्य भिन्न २ अंग हैं, और यद्यपि भिन्न २ भाग का धर्म भिन्न २ है, किन्तु प्रत्येक अपने स्थान और धर्म वैसा ही आवश्यक है जैसा कि दूसरा है। अतएव भिन्न २ धर्म और अवस्था के रखते हुए भी आत्मा की दृष्टि से सब समान हैं। आत्म-दृष्टि ही यथार्थ दृष्टि है, क्योंकि बाह्य उपाधि असत् है। बड़ी छोटी जाति कदाचित् कही जा सकती है, किन्तु कोई भी नीच जाति नहीं है। बड़े, छोटे के साथ प्रेम-व्यवहार और सहायता करने से ही, बड़े होते हैं, अन्यथा नहीं। विशेष कर समूह के लिए अधिक त्याग करने से कोई जाति अथवा व्यक्ति बड़ी होती है। अतएव बड़ों को चाहिए कि छोटी जाति के गरीब लोगों को अपने निज का वर्ग मान कर उनसे प्रेम-व्यवहार करें और उनकी उन्नति के लिए उनमें हरिस्मरण, अहिंसा, सत्य, विद्या, शौच, मादक द्रव्य का त्याग, बालविवाह-निषेध, हस्तनिर्मित वस्त्र की उत्पत्ति के लिए आवश्यक कार्य्य आदि का प्रचार करें। उन लोगों की पंचायत द्वारा इन कामों को जारी करना चाहिए। रात्रि-पाठशाला भी उनमें दिन में काम करनेवालों की शिक्षा के लिए खुलनी चाहिए।

श्रीभगवान् रामचन्द्र ने इसी समता के महत्त्व को दर्शाने के लिए छोटी जाति के निषाद से बहुत बड़ी मैत्री की और श्रीमती शबरी भैलनी के जूठे फलों को सादर ग्रहण किया। श्रीकृष्णभगवान ने अपनी बाल-लीला का आनन्द गोपवंशी

को प्रदान किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीहरिदास जी नाम के एक मुसलमान परम प्रिय भक्त थे। श्रीबाबा गुरुनानक के एक प्रिय साथी मर्दाना मुसलमान थे। आधुनिक काल में अनेक महात्मा भक्तगण छोटी जातियों में प्रकट हुए।

जिस प्रकार जातीय अथवा सामाजिक विद्वेष परम हानिकारी और समभाव का विरोधी है, उसी प्रकार धार्मिक और साम्प्रदायिक विद्वेष भी धर्मध्वंसकारी और भयानक अशान्तिप्रद हिंसा है। सब सम्प्रदाय और धर्म के ईश्वर एक ही हैं, भिन्न२ नहीं, और उनके मुख्य उपदेश भी प्रायः समान हैं, किन्तु उपासना की प्रथा भिन्न २ रुचि और स्वभाव के अनुसार प्रथमावस्था में भिन्न २ अवश्य होनी चाहिए, किन्तु सबके अन्तिम लक्ष्य एक हैं। इस कारण आर्य्यधर्म किसी धर्मावलम्बी को अपने धर्म का त्याग करने के लिए नहीं आदेश करता है। गीता अ० ३ श्लोक ३५ का आदेश है कि स्वधर्म विगुण होने पर भी परधर्म से अच्छा है और फिर "सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत्" अर्थात् दोषयुक्त सहज धर्म को भी नहीं त्यागना चाहिए। ऐसी अवस्था में किसीको दूसरेके धर्म से कदापि नहीं द्वेष करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार उस का धर्म उसके लिए आवश्यक है, उसी प्रकार दूसरेका धर्म भी दूसरेके लिए परमावश्यक है। फिर गीता अ० ६ श्लोक २१ में श्री भगवान् का वचन है कि जो कोई मेरे जिस आकार अथवा भाव को श्रद्धा से भजन करना चाहता है, मैं उसीमें उसकी अचल श्रद्धा का विधान करता हूं। धर्म यथार्थ

में प्रेम-राज्य है, अतएव जो इस शान्तिप्रद परमात्मा के मन्दिर में द्वेष और विरोध ला कर इसकी पवित्रता को कलुषित करते हैं, वे यथार्थ में बड़ा अपराध करते हैं। लोगों को अपने से भिन्न मत, विश्वास और कार्य्यकलाप को सह्य करना चाहिए।

प्रचार का मुख्य उपाय।

अहिंसा, सत्य आदि के प्रचार के लिए जो महायज्ञ इस समय हो रहा है उसकी सिद्धि का मुख्य उपाय सभा-संगठन अर्थात् सत्संगति है। सर्वत्र सभा-संगठन स्थायी रूप में होना चाहिए। शास्त्र में लिखा है कि "संघ-शक्तिः कलौयुगे" अर्थात् कलियुग में किसी व्यापक महत् कार्य की सिद्धि के लिए सम्मिलित शक्ति का उपयोग करना आवश्यक है और इसके विना सफलता नहीं होगी। अतएव स्थान २ में स्थायी सभा और उसके पदाधिकारी सभापति, मंत्री, सभ्य का निर्वाचन परमावश्यक है। अहिंसा, सत्य आदि लोकोपकारी कार्य्य के लिए संगठित सभा द्वारा शुद्धभाव से कार्य्य करने से उसमें दैवीशक्ति आ जाती है और विशेष कर उसके अधिवेशन के समय वहां देवताओं और ऋषियों के शक्ति-प्रभाव की वर्षा सभासदों, विशेषकर योग्य कार्य्यकर्त्ताओं को शक्ति-प्रदान के लिए होती है।

अतएव सभा अर्थात् उसके अधिकारी और सभासद परम आदरणीय हैं। वेद का वाक्य है "नमः सभाभ्यः सभा-

पतिभ्यः" अर्थात् सभा और सभापति को नमस्कार है। "पंचमुख परमेश्वर" की कहावत भी प्रसिद्ध है। अतएव सभा में श्रद्धा से सम्मिलित होना तीर्थवास से भी अधिक फलदायी है। रामायण में सभा को जङ्गमतीर्थ कहा है। सभा के सभापति, मंत्री आदि का बहुत बड़ा दायित्व है और उनका परम कर्त्तव्य है कि सभा और उसके कार्य्य को जारी रक्खें। सभा के अधिवेशन के प्रारम्भ और अन्त में संयुक्त हरिस्मरण अर्थात् ईश्वर-प्रार्थना अवश्य होना चाहिए, क्योंकि यह दैवीशक्ति का आवाहन है। हरिस्मरण और कीर्त्तन से लोकोपकारी कार्य्य करने की प्रबल शक्ति मिलती है। अतएव इसका विशेष प्रचार परमावश्यक है। यदि सभा में थोड़े लोग आवें अथवा उदासीनता दीख पड़े, उस समय तो अधिक उत्साह से सभा के कार्य्य में उद्यत होना चाहिए, क्योंकि उस समय दैवीशक्ति की प्राप्ति अधिकता से होती है। यह स्वभाव का नियम है कि कमी के होने से उसको पूरा करने के लिए शक्ति का अधिक संचालन होता है। सत्सभा और महात्मा के लोकोपकारी शुभादेश का पालन और प्रचार करनेवाला श्रीपरमात्मा का प्रिय भक्त बन जाता है और उसको उन श्रीपरमात्मा पर भरोसा कर अपने त्याग-व्रत में दृढ़ रहना चाहिए, कदापि सांसारिक आवश्यकता के लिए चिंतित नहीं होना चाहिए, क्योंकि वाक्य है कि "योऽसौ विश्वंभरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते" अर्थात् जो श्रीपरमात्मा विश्व का भरण-पालन करते हैं, क्या वे अपने भक्त की उपेक्षा करेंगे?

—

महात्मा-महापुरुष

अनेकोंकी धारणा है कि संसार के कल्याण के लिए श्रीजगद्गुरु प्रकट होंगे और अनेकानेक लोगों का यह दृढ़ विश्वास है कि महात्मा-महापुरुष का आगमन हो गया। दोनों सत्य हैं। महात्मा-महापुरुष के लक्षण का विचार करने से इस विषय का निर्णय सहज है। उक्त लक्षण ये हैं:—जिनमें किसी प्रकार का स्वार्थ लेशमात्र न हो; जो लोगों के कल्याण के लिए आवश्यक त्याग-तपस्या में प्रवृत्त होकर सहर्ष कष्ट सहन करें और ऐसा कर पाप-समूह का प्रायश्चित्त करें; सत्य-मार्ग के अनुसरण करने में ऐसे निर्भीक और दृढ़-प्रतिज्ञ हों कि प्राण देकर अथवा चक्रवर्ती राज्य को भी त्याग कर अहिंसा, सत्य आदि की रक्षा करें; जो पशु-बल को तुच्छ समझ श्रीपरमात्मा की आत्मशक्ति पर पूर्ण निर्भर हों; जिनके त्याग-पूरित और परम परोपकारी आचरण के प्रभाव से अनेक लोग विषयसुख को तिलांजलि देकर निःस्वार्थ भाव से परोपकार-व्रत में प्रवृत्त हो जायँ और उसके निमित्त त्याग और कष्ट को सहर्ष स्वीकार करें; जिनका प्रेम सर्वव्यापी हो किन्तु द्वेष किसीके प्रति भी न हो; जो ब्रह्मचर्य्य के बड़े प्रेमी और प्रचारक हों; जो पतित, चाण्डाल, दीन, दुःखी, दरिद्र, असहाय, असमर्थ, पददलित जनों के दुःख को अपना दुःख मान उसके मिटाने के लिए कष्ट सहें और दूसरोंको भी इस कार्य्य में प्रवृत्त करें; ऐसे महानुभाव अवश्य महात्मा महापुरुष हैं,

जिनका अवतरण बड़ा दुर्लभ है। महात्मा-महापुरुष की एक और ठीक पहचान यह भी है कि सर्वसाधारण एक स्वर से, उनके नाम और गुण सुन कर और प्रायः विना देखे अथवा कोई व्यक्तिगत लाभ पाये, अपने २ हृदय में उनको सर्वोच्च आसन प्रदान करते हैं और उनपर हार्दिक भक्ति और प्रेम रखते हैं। सर्वसाधारण का ऐसे गुरुतर विषय में व्यापक विचार यथार्थ में देव-वाणी है। जब संसार की दुरवस्था ऐसी भयानक और सर्वनाशिनी हो जाती है कि बिना स्वयं श्रीपरमात्मा के अवतार लिये उसका सुधरना असम्भव रहता है, तब वे स्वयं अवतार लेते हैं, किन्तु अन्य कठिन समय में वे अपने प्रिय भक्त महात्मा-महापुरुष को भेजते हैं। ये महात्मा महापुरुष सत्यसंकल्प होते हैं औ उनका कल्याणकारी उद्देश्य अनेक विघ्न-बाधाओं के आने पर भी, अवश्य सफल होता है और सांसारिक प्रबल से प्रबल शक्तियां भी उनको नहीं दबा सकतीं। धन्य है वह समय और उस समय के लोग, जब कि ऐसे महात्मा-महापुरुष का आविर्भाव होता है।

श्रीभगवान् मोहनचन्द्र के परम प्रिय और कर्मदेवों के भी चन्द्र अपने पवित्र सुगंध से जनसमुदाय के दोषों को नाश करनेवाले सत्यनिष्ठ और परम अहिंसक तपस्वी महात्मा-महापुरुष अवश्य प्रकट हो गये, जिसका ही यह प्रभाव है कि उनकी परमोज्ज्वल कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गयी। इनमें महात्मा-महापुरुष के सब लक्षण पूर्ण रूप से वर्तमान हैं और सर्वसाधारण की दैववाणी ने भी, जो अभ्रान्त है, इनको

महात्मा-महापुरुष के परमोच्च आसन पर स्थापित किया और "महात्मा जी" की उपाधि दी है।

निष्कामता, और आदर के कारण बड़ों के नाम को न लेने के नियम के अनुसार नाम न लिख कर यहां महात्मा-महापुरुष की उपाधि के संकेत का ही व्यवहार किया गया, किन्तु भाव स्पष्ट है। ये महात्मा-महापुरुष के उपदेश और आदेश, जो उनके लेख, वक्तृता और जीवन-कलाप द्वारा ज्ञात होते हैं, वे नवीन अथवा कल्पित न हो कर सर्वसम्मत, निर्विवाद, सर्वधर्मानुमोदित, परम श्रेयस्कर, सनातन धर्म का सार, और ऐहिक पारमार्थिक दोनों के लिए लाभदायक हैं। इस कारण इनके पालन से सांसारिक और पारमार्थिक दोनोंकी उन्नति और भङ्ग करने से दोनों की हानि अवश्य होगी। उनकी दृष्टि में अध्यात्म और व्यवहार एक हैं, भिन्न नहीं। अतएव उनके उपदेश अधिकतर आध्यात्मिक हैं, जिनके अभ्यास विना सांसारिक, अथवा राजनैतिक उन्नति भी, कदापि सम्भव नहीं है।

अन्य बात के साथ २ उक्त महात्मा-महापुरुष के आदेशों के किंचित् वर्णन करने की चेष्टा इस पुस्तिका में की गयी है और उनके मुख्य विषयों को बार २ लिखने का तात्पर्य्य पाठकों के चित्त में उन्हें विशेष अङ्कित करना है, जिसके और भी क्रम के व्यतिक्रम के लिए क्षमा प्रार्थना है। वे आदेश संक्षेप में ये हैं—हरिस्मरण, अहिंसा, द्वेषवर्जन, सत्य, सात्त्विक-भोजन, ब्रह्मचर्य्य, दीन-उपकार, सार्वजनीन-प्रेम,

विशेषकर छोटी जाति के प्रति प्रेम और सद्व्यवहार, पञ्चायत-प्रचार, हिंसा और दुःख का मुख्य कारण मादक-द्रव्य के व्यवहार का निषेध, हस्तनिर्मित (हाथ से कते बुने सूत द्वारा बने) वस्त्र की उत्पत्ति के लिए विविध प्रकार से विशेष यत्न और उनका व्यवहार और प्रचार, ब्रह्मचर्य्य और धर्मयुक्त शिक्षा का प्रचार, भिन्न २ सम्प्रदाय, धर्म और मत के अनुयायियों, विशेषकर हिन्दू और मुसलमानों, में परस्पर के द्वेष का त्याग और एकता और प्रेम का व्यवहार, पशु- (भोगात्मक इन्द्रिय) बल का दमन और ईश्वरीय (आत्म) शक्ति का उद्भव और उपयोग, निर्भीकता अर्थात् सत्य-सिद्धान्त की रक्षा के लिए आवश्यक होने पर सहर्ष क्लेश-सहन, अन्याय और अत्याचार के सम्बन्ध से उपराम, निष्कामता, सादी चाल और व्यवहार आदि हैं। ये सब ऐसे उपदेश हैं जिनका पालन करना व्यक्ति, समाज, और देश के लिए भी सब प्रकार से परम लाभकारी है, किन्तु इनके विरुद्ध चलने से इसी प्रकार व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार की क्षति और हानि हैं, जिसके कारण ऐसा करना बहुत बड़ा पाप है। इन उपदेशों का स्वयं पालन करना और दूसरोंको पालन करने में प्रवृत्त करना ही वर्त्तमान समय का तपस्या-महायज्ञ है, जो श्रीपरमात्मा की इच्छा के अनुसार इस सुअवसर में हो रहा है। इनके महात्मा-महापुरुष होने में एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि अनेक बहुत बड़े २ सज्जनवृन्द ने केवल इनके प्रभाव के कारण बहुत बड़ा त्याग किया है और वे इनके निर्दिष्ट तपस्या-मार्ग का प्रसन्नता

से अनुसरण कर रहे हैं और अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए दीर्घ क्लेश को भी सहर्ष सहन करते हैं। ये सब अवश्य आश्चर्यमय घटनाएं हैं। ये महात्मा-महापुरुष इस समय के महायज्ञ के, जो लोगों को कल्याण के लिए ईश्वराधीन हो रहा है, परमाचार्य्य हैं। इस कारण सबोंका यह परम कर्त्तव्य है कि हिंसा, असत्य आदि अपवित्र भाव को त्याग कर उनके आदेशानुसार इस महायज्ञ में योग दें। इन्होंने जो सर्वसाधारण के हित के लिए नितान्त त्याग, असीम कष्ट और प्रबल तपस्या की है और कर रहे हैं, उसके कारण भी लोगों का यह कर्त्तव्य है कि इनके शुभ आदेशों को शिरोधार्य्य कर शिरोभूषण बनावें और उनके अभ्यास द्वारा इनकी कठिन तपस्या के ऋण का किंचित् अंश में परिशोध करें और सार्थक बनावें। ऐसे शिरोभूषणधारी को उचित है कि वे कदापि कोई ऐसा कार्य्य न करें जो उनके परम मान्य आचार्य्य महात्मा-महापुरुष और इस महायज्ञ-व्रत के विरुद्ध और अयोग्य हो, नहीं तो उसके द्वारा इस सम्पूर्ण यज्ञ को क्षति पहुंचेगी। उक्त महात्मा-महापुरुष के शुभनाम में ऐसा प्रभाव है कि उनके पवित्र नाम पर सर्वसाधारण को इस महायज्ञ में योग देने के लिए प्रार्थना करने से उसका प्रबल प्रभाव और परिणाम अवश्य देखा जाता है और लोगों की प्रवृत्ति इस वृहत् पवित्रकारी कार्य्य की ओर अवश्य होती है। अतएव इस समय कार्य्यकर्त्ताओं को उपदेश द्वारा इनके नाम का पूरा उपयोग करना चाहिए और जिससे हरिस्मरण, अहिंसा, सत्य आदि धर्म का प्रचार हो उसके लिए

अवश्य विशेष यत्न होना चाहिए। किन्तु जो इनके पवित्र नाम की ओट में स्वार्थसाधन करेंगे और अधर्म का प्रचार करेंगे वे बहुत बड़े दोषी हैं और उनका परिणाम परम शोचनीय होगा। महात्मा-महापुरुष के इन परम श्रेयस्कर आदेशों के पालन-करनेवाले अवश्य परम भाग्यशाली और इनके विरुद्ध चलने-वाले अवश्य परम निन्दनीय हैं और वे पीछे बहुत पछतावेंगे। चन्द्रमा शाप के कारण जबतक समुद्र में छिपे थे, तबतक वहां के जंतुओं ने उनकी उपेक्षा की और उनके निकट जाकर उनके अमृत का पान नहीं किया, किन्तु उनके वहां से चले जाने पर वे पछताने लगे। यही अवस्था उपेक्षाकारी की होगी। यह आवश्यक है कि अविश्वासी को नम्र-भाव से इस महायज्ञ और उसके आचार्य्य का महत्त्व समझाया जाय और उसमें योग देने के लिए कहा जाय, किन्तु उनकी उपेक्षा अथवा विरुद्ध भाषण पर कदापि क्षुभित नहीं होना चाहिए, बल्कि उनके पैरों पर गिरकर उनसे विनीत प्रार्थना श्रीपरमात्मा के नाम पर करनी चाहिए। जिस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, और श्रीभगवान् बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, श्रीबाबा गुरु नानक, श्रीशंकराचार्य्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरामानुजाचार्य्य आदि के अवतीर्ण होने पर उनके कार्य्य में योगदेनेवाले कृतकृत्य और प्रातःस्मरणीय हो गये और उनका जीवन परम सार्थक हुआ, किन्तु उस समय जो उनके विरोधी थे और अविश्वास के कारण योग देने से विमुख रहे, उनकी बड़ी भूल हुई और उन्होंने उन्नति करने के बड़े सुअवसर को

खो दिया, यही दशा इस समय में दोनों प्रकार के लोगों के लिए माननी चाहिए। अब लोगों को चाहिए कि वेद के वाक्य "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत" के अनुसार शीघ्र उठें, जागें और उक्त महात्मा-महापुरुष के शुभ उपदेशों और आदेशों का अनुसरण करें और अहिंसक तपस्वी बन कर इस महायज्ञ के होता हों। अहिंसक तपस्वियों के कार्य्य का भाव श्रीमद्भागवत पुराण, स्क० ५, ख० १८ श्लो० ६ के निम्नकथित श्रीप्रह्लाद वाक्य के अनुसार होना चाहिए और उन्हें इसको हृदय में दृढ़ता से धारण कर अपना लक्ष्य बनाना चाहिए और इसीके अनुसार आचरण भी होना चाहिए:—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां,
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे,
आवेश्यतां नो मति रप्यहैतुकी॥
"ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!!!

विश्व का कल्याण हो; दुष्ट अपनी दुष्टता को त्याग कर सज्जनता ग्रहण करें; सब प्राणी परस्पर में सब प्राणियों के कल्याण की भावना करें, हम सबोंका मन कुशल और शान्ति की चाहना रक्खे, और हम सबोंकी बुद्धि निष्काम होकर श्री परमात्मा में प्रवेश करे।

यह दृढ़ सिद्धांत और निश्चय है कि इस महायज्ञ की सफलता ठीक समय में अवश्य होगी, क्योंकि वेदवाक्य है "सत्यमेव जयति नानृतम्"। गीता का भी वचन है:—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयोभूति ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन्! मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण और गांडीवधारी अर्जुन हैं, वहां ही राज्य-लक्ष्मी, विजय, स्थिर विभव और स्थिर नीति अवश्य है ।

परम अहिंसाचार्य्य सत्यनिष्ठ श्रीमहात्मा महापुरुष की जय ! ! !

साधन संग्रह, प्रथम और द्वितीय खण्ड ।

यह पुस्तक भक्तप्रवर श्रीपण्डित भवानीशङ्कर जी के उपदेश के आधार पर लिखी गयी है । इसमें विशेष कर श्रीमद्भगवद् गीता के विषयों का विस्तृत वर्णन स्वतंत्र रूप से है और भी सद्गुरु कौन हैं ? और उनकी कैसे प्राप्ति होगी ? इन परमवश्यक विषयों का भी वर्णन है । इसके विषय में श्रीपण्डित ऋषीश्वरनाथ रेना, भूतपूर्व सम्पादक, कर्तव्य लिखते हैंः— "प्रत्येक मनुष्य को, जो इस प्राथिवता के समय में अपनेको सुधारना चाहता है, इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए" । मिथिला-मिहिर लिखता हैः—"गांव गांव, घर घर में इस पुस्तक काप्रचार होना चाहिए" । भक्तवर रायसाहब भगवत नारायण जी, बी० ए०, अवकाशप्राप्त एडिशनल इंसपेक्टर, स्कूल, लिखते हैः— इससे जो उपकार लोगों को होगा वह अकथनीय है । पढ़ने से श्रीगोसांईजी के निम्नलिखित वचनों का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता हैः चारों वेद पुरान अष्टदस छओ शास्त्र सब ग्रन्थन को रस । तन मन धन सन्तन को सर्वस सार अंश सम्मत सब ही को" । आकार डेमी ८ पेजी, पृष्ठ ६७६, कीमत दोनों खण्डका २॥)

उपासना प्रकाश । इस में उपासना का तत्त्व, विशेष कर श्रीरामोपासना का रहस्य वर्णित है । कीमत ॥०)

मिलने का पता—मैनेजर, खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर ।

१६२८ का कोर्स-लिस्ट

खड्गविलास प्रेस की नीचे लिखी कोर्स तथा ... बुक किताबें १६२८ से पढ़ाने के लिए जारी ...

क्लास १ ला—सचित्रवर्णपरिचय ‑) शिशुप्रमोद

न्यु हिन्दी रीडर १ ला ‑)॥ देशीकसरत १ ला

* गणित शिक्षक ॥=) * मंगल प्रकृति पाठ (क्लास १-३)

* सचित्र ऐक्शनसौंग्स (अंगहारगीत)

क्लास २ रा, ३ रा—आमोदपाठ ।=) बालकथामाला =) (कथामें

* निम्नस्वास्थ्यशिक्षक =) * देशीखेल

* गणितशिक्षक ॥=) * लोअर भूगोल शिक्षक

* इतिहास शिक्षक (२ रा ३ रा क्लास)

* देशीकसरत १ ला ।‑)॥ * मौखिक इतिहास पाठ

* मंगलप्रकृति पाठ (क्लास १-३) ॥) * पत्र लेखन विधि

क्लास४था५वां—अपरआदर्शसाहित्य ।=)॥ होनहारबालक ।=) (कु०

अपर नव्यगणित कौमुदी ॥‑)॥ * देशीखेल

* अपर स्वास्थ्य शिक्षक ।=) * मंगल प्रकृति पाठ (४-५) ।

* इतिहासशिक्षक (क्लास ४) ।=)॥ *इतिहासशिक्षा (क्लास५) ।

* अपर भूगोल शिक्षक ।=)॥ * पत्रलेखन विधि

* देशीकसरत २ रा ।=)॥ * आदर्श व्याकरण शिक्षक ।=

क्लास ६ठा७वां—मिड्लआदर्शसाहित्य ॥‑)॥ सुचालशिक्षा ॥) (क०

सुबोध व्याकरण ।‑) मिड्ल इतिहास ॥

मिड्ल नव्यगणित कौमुदी ॥‑)॥ मिड्ल स्कूलज्योमेट्री ॥=

* मंगलप्रकृति पाठ (क्लास ६-७)

* देशी कसरत ३ रा ॥) * मि० स्वास्थ्य शिक्षक ।

... उर्दू मिड्ल इतिहास—कालिका सिंह ॥

पता—मैनेजर, खड्गविलास प्रेस बांकीपुर ।

---

*टैक्सबुक

धर्मसम्बन्धी पुस्तक का चुनाव शिक्षक स्वयं कर सकते है। धर्म शिक्षक लोअर अपर ।‑) मिड्ल ।‑) मंगाकर देखें ।